अज्ञेय के साहित्य में मुक्ति का स्वरूप

Ajneya Ke Sahitya Mein Mukti Ka Swaroop

(IDEA OF LIBERTY IN AJNEYA'S LITERATURE)

पीएच॰डी॰ उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध

शोध निर्देशक
प्रो॰ गोबिन्द प्रसाद

शोधार्थी
शौर्यजीत सिंह

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली– 110067

2019

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केंद्र
Centre of Indian Language
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली –110067, New Delhi-110067 India

अध्यक्ष
CHAIRPERSON

Date:15/07/2019

Certificate

This is to certify that the Mr./~~Ms~~ **Shaurya Jeet Singh**, a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Language, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled **"AJNEYA KE SAHITYA MEIN MUKTI KA SWAROOP (IDEA OF LIBERTY IN AJNEYA'S LITERATURE)".**

This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

PROF. GOBIND PRASAD
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. OMPRAKASH SINGH
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

Date:15/07/2019

Decleration

I hereby declare that the Ph.D.thesis entitled **"AJNEYA KE SAHITYA MEIN MUKTI KA SWAROOP (IDEA OF LIBERTY IN AJNEYA'S LITERATURE)"** submitted by me is the original research work . it has not been previously submitted for any other University/Institution to the best of my knowledge

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarize in my thesis,I will be solely responsible for the act.

Shauryajeet

Sign of Research Scholar

SHAURYA JEET SINGH

Name of Research Scholar

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

भूमिका

अध्याय एक 1—38

मुक्ति का अर्थ एवं स्वरूप

1.1. प्रस्तावना

1.2. भारतीय षडदर्शन में मुक्ति

1.3. मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद के संदर्भ में मुक्ति

अध्याय दो 39—82

हिंदी साहित्य में मुक्ति की अवधारणा और अज्ञेय

2.1. प्रस्तावना

2.2. हिन्दी साहित्य की पीठिका में मुक्ति की अवधारणा

2.3. भक्ति कविता में मुक्ति का स्वरूप

2.4. अज्ञेय के समकालीनों में मुक्ति का स्वरूप

अध्याय तीन 83—113

अज्ञेय का मुक्ति सम्बन्धी चिन्तन

3.1. प्रस्तावना

3.2. सृजनशीलता और मुक्ति

3.3. काल और मुक्ति

3.4. प्रेम और मुक्ति

अध्याय चार 114—169

अज्ञेय के कथा—साहित्य में मुक्ति के आयाम

4.1. प्रस्तावना

4.2. अज्ञेय के उपन्यासों में मुक्ति का स्वरूप

4.3. अज्ञेय की कहानियों में मुक्ति का स्वरूप

अध्याय पांच 170—195

अज्ञेय की मुक्ति—सम्बन्धी कविताओं का आलोचनात्मक अध्ययन

उपसंहार 196—199

संन्दर्भ ग्रन्थ सूची 200—205

भूमिका

सब कुछ, सारा प्रस्थान, सारे–प्रयास, सारी यात्राएं मनुष्य ने मुक्त होने के लिए की हैं। मुक्ति मनुष्य की एक मात्र कामना है। अपनी इस यात्रा के क्रम में वह अपनी मुक्ति को व्यापकतर संदर्भों में पहचानता भी रहा है। आदिम मनुष्य के लिए तो सबसे बड़ी अपूर्णता उसके सर्वाइवल के सवाल से जुड़ी रही होगी। भोजन, आश्रय और सुरक्षा। जैसे–जैसे उसने इन्हें उपलब्ध किया। इनके लिए स्थायी समाधानों की ओर वह बढ़ा। वैसे–वैसे वह पूर्णतर होता गया। उसने अपने को अधिक मुक्त किया। इस प्रक्रिया में उसे क्रमशः यह पहचान भी हुई होगी की वह अकेले अपनी मुक्ति को पाने में अधिक सक्षम है या समूह के साथ। मुक्ति के लिए किये गए प्रयासों के साथ एक विडम्बनात्मक स्थिति भी चलती रही है। इस प्रयास और प्रक्रिया में मनुष्य जैसे–जैसे मुक्त होता गया। वैसे–वैसे किसी दूसरे आयाम में वह गुलाम भी बनता गया है। आदिम मनुष्य से ही प्रारम्भ करें तो सर्वाइवल के लिए किए गए प्रयासों ने उसे समाज–संस्था, परिवार–संस्था, सामूहिक श्रम पर आधारित कृषि संस्था और सुरक्षा आदि के कई उपकरण दिये। निश्चय ही इन उपकरणों–उपादानों ने उसे मुक्त किया। पर साथ ही कृषि के सरप्लस से जन्मी सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया ने उसे गुलाम भी किया और इसका सबसे वीभत्स रूप दास–प्रथा के रूप में सामने आया। यह विडम्बनात्मक गति आज तक अनवरत जारी है। विश्व भर के बहुत से समाजों ने नये सिरे से सामाजिक–राजनीतिक संशोधन करके ऐसी प्रथाओं के उन्मूलन का काम किया है। इन प्रयासों से मुक्ति और वृहदत्तर संदर्भ में सामने आयी है। लेकिन उसके साथ जुड़ी विडम्बनात्मक स्थिति बदली नहीं है। विज्ञान–तर्क और उस पर आधारित जीवन और समाज दृष्टि ने जहां पुराने सांस्थानिक अपूर्णताओं को दूर किया, वहीं भौतिक समृद्धता के साथ मनुष्य को और पूर्ण किया। परन्तु इस अधिकाधिक भौतिक पूर्णता ने मनुष्य को भीतर से गुलाम बनाया है।

ज्ञान की सारी विधाओं ने इस प्रक्रिया को समझने और इसकी द्वन्द्वात्मक नियति के संबंध में विचार–विश्लेषण करके अपने–अपने समाधान भी प्रस्तुत किये हैं। बल्कि यूं कहें कि सारा ज्ञानात्मक–विमर्श इसे ही समझने की प्रक्रिया है। यह विमर्श कई बार एकांगी और हद दर्जे के निराशावाद तक भी चला गया है। कई ऐसे समाजशास्त्री भी हुये हैं, जो किसी

आध्यात्मिक उद्देश्य को न मानने पर भी मनुष्य को समाजविमुख प्राणी घोषित करते रहे हैं। इस प्रकार के विचारों से अपने को अलगा लेने पर भी सामाजिक मनुष्य के लिए उसकी मुक्ति के व्यष्टि और समष्टिगत आधारों पर लम्बी बहस रही है। यह अज्ञेय के साहित्य में मुक्ति के प्रश्न से जुड़ा बड़ा आयाम है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में इस व्यष्टि–समष्टिगत मुक्ति के विभिन्न विचारों के संदर्भ में अज्ञेय की मान्यताओं का परीक्षण किया गया है। इस संदर्भ में हिन्दी आलोचना ने अज्ञेय के ऊपर जो व्यक्तिवाद और अहं की कारा में कैद रहने जैसे आरोप लगाये हैं। इन आरोपों का भी परीक्षण किया गया है।

अज्ञेय अपने परिवेश के प्रति बड़े सचेत कलाकार है। मुक्ति के साथ जुड़ी विडम्बना को अपने युग के संदर्भों में अज्ञेय ने बखूबी समझा है। तर्कबुद्धिवाद का विस्तार और उसकी बुनियाद पर खड़ी हुई भौतिक प्रगति से पैदा होने वाली आभ्यांतर गुलामी के प्रति अज्ञेय सचेत हैं। वे अपने चिन्तन और सृजन में इस समस्या को सभी संभावित कोणों से सामने लाते हैं। और इसका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स ने भी आभ्यांतर के निरन्तर गुलाम बनते जाने की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया है और इसके लिए उपाय भी सुझाये हैं। प्रस्तुत शोध प्रबंध में दोनों के समस्या को समझने के एप्रोच और उनके समाधानों की तुलना की गई है।

आधुनिकता की विडम्बना का प्रश्न अस्तित्ववाद, खासकर सार्त्र में एक अलग चिन्ता का रूप ले लेता है। तर्कबुद्धिवाद की सीमाओं और पुराने वैल्यू–सिस्टम की प्रयोजनहीनता सार्त्र को किसी समाधान तक बढ़ने ही नहीं देती और यही समाधानहीनता उसका समाधान बनता जाता है। शायद इसीलिए जीवन के अंतिम समय में उसका झुकाव मार्क्सवाद की तरफ होता चला गया था। अस्तित्ववाद और अज्ञेय के सम्बन्धों की चर्चा भी हिन्दी आलोचना में बहुत हुई है। अज्ञेय पर अस्त्विवादी होने के आरोप भी लगाये जाते रहे हैं। इन आरोपों की पड़ताल भी इस शोध–प्रबंध का हिस्सा हैं। तर्कबुद्धिवाद की सीमाओं से अज्ञेय भी गहरे से परिचित थे, परन्तु उनमें इन सीमाओं की समझदारी का दबाव अस्तित्ववाद की ओर नहीं गया है। ये सारी समस्याएं अज्ञेय के कम्पार्टमेंटलाइजेशन किए जाने से पैदा हुई हैं। अज्ञेय के मुक्ति–दर्शन को समझने के लिए उनके काल, सृजनशीलता, प्रेम, अध्यात्म और सामाजिक संगठन के प्रति उनके दृष्टिकोण को मिलाकर पढ़ना होगा। ऐसा न किये जाने के कारण ही अज्ञेय पर भिन्न–भिन्न आरोप लगाए जाते रहे हैं ओर इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया कि अज्ञेय

अपने सामाजिक चिन्तन में अस्तित्ववादी व्यक्तिवादी आरोपों से दूर गांधी के कहीं निकट खड़े मिलते हैं। प्रस्तुत शोध प्रबंध में इस तथ्य को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

पहले अध्याय में मुक्ति के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। कुछ प्रणालियां मुक्ति को केवल आध्यात्मिक स्तर पर ग्रहण करती हैं, तो कुछ नितान्त भौतिक अर्थों में। ये Within और Without का प्रश्न मुक्ति को समझने के लिए सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस अध्याय में इन दोनों को समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही भारतीय षड्दर्शन में मुक्ति की अवधारणा और मार्क्सवाद व अस्तित्ववाद के सन्दर्भ में मुक्ति को समझने का भी प्रयास किया गया है। दूसरा अध्याय साहित्य की परम्परा में मुक्ति के स्वरूप को समझने का प्रयास है। अज्ञेय अपनी परम्परा से कैसे जुड़ते हैं और अपने देशकाल के अर्थ–संदर्भों के अनुरूप इसे कैसे विस्तृत करते हैं– यह इस अध्याय में बताया गया है। अज्ञेय ने औपनिषदिक कथाओं, प्रतीकों और परिभाषिक पदावली के साथ–साथ आरण्यक ऋषियों के चिन्तन का सर्जनात्मक उपयोग किया है। बल्कि मुक्ति के सच्चे सन्दर्भ को वे अवलोकितेश्वर की कथा के प्रसंग में ही उपलब्ध कर पाये हैं कि 'उत्सर्ग हो जाना ही एक मात्र स्वतंत्र वरण हैं।' साथ ही अज्ञेय के समकालीनों में मुक्तिबोध और शमशेर की काव्य–संवेदना में मुक्ति के सन्दर्भों का भी विश्लेषण किया गया है। यह विश्लेषण अपने समकालीनों से मुक्ति की अवधारणा के संदर्भ में अज्ञेय की विशिष्टता को रेखांकित करता है। तीसरा अध्याय अज्ञेय के चिन्तन परक गद्य में उनकी मुक्ति की अवधारणा को सामने रखता है। जो काल, सृजनशीलता और प्रेम के प्रत्ययों के माध्यम से अपने सभी अर्थगत आयामों को व्यक्त करती है। चौथा और पांचवा अध्याय अज्ञेय के सृजनात्मक लेखन में मुक्ति के विविध आयामों की पड़ताल है। चौथा उनके उपन्यासों और कहानियों में अभिव्यक्त मुक्ति के स्वरूप का विश्लेषण है, तो पांचवा कविताओं में। इन अध्यायों में मुक्ति के शिल्पगत वैशिष्ट्य को भी साथ–साथ विवेचित कर दिया गया है।

आज जब अकादमिक जगत में 'मुक्ति' को राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित कर दिया गया है। तब अज्ञेय के साहित्य का मुक्ति केन्द्रित पाठ नितांत आवश्यक हो जाता है। अज्ञेय ये मानते हैं कि अपनी चरम संभावनाओं की उपलब्धि के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता तो पहली शर्त है ही, परन्तु जीवन के सम्पूर्ण राजनीतिकरण के संभाव्य खतरों से भी वे परिचित हैं।

इसीलिए वे इससे आगे बढ़कर संस्कृति और अध्यात्म के क्षेत्र तक जाते हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबंध में उन सारे कलात्मक प्रयोगों और उपलब्धियों की समीक्षा की गई है जो मुक्ति को राजनीतिक सन्दर्भों से आगे सांस्कृति और आध्यात्मिक क्षेत्र तक ले जाती है।

प्रो॰ गोबिन्द प्रसाद ने इस शोधकार्य में मेरा मार्गदर्शन किया है। एम॰ए॰ में भी वे मेरे आधुनिक कविता के शिक्षक रहे हैं। शायद अज्ञेय में मेरी दिलचस्पी को और इस दिलचस्पी के पीछे के कारणों को देखकर ही उन्होंने मुझे 'अज्ञेय के साहित्य में मुक्ति का स्वरूप' यह विषय दिया। इस कार्य में सहयोग और मार्गदर्शन के लिए तो धन्यवाद ज्ञापित किया जा सकता है, पर जो स्नेह उनकी ओर से मुझे प्राप्त हुआ है उसका प्रतिदान संभव नहीं है।

जब शोधकार्य की शुरूआत हुई थी चार वर्ष पहले तो यह विषय मेरे लिए अकादमिक एक्सरसाइस मात्र था। परन्तु बाद के सालों में अज्ञेय के चिन्तन ने मेरी व्यक्तिगत जीवन में बहुत सहायता की। गहरे अवसाद की स्थिति से बाहर आने में अज्ञेय साहित्य के अध्ययन ने भूमिका निभाई। सृजनशीलता में मुक्ति को देखने वाला लेखक मेरे अपने जीवन में सदैव प्रासंगिक रहेगा। इसी सृजनशीलता ने मुझे अवसाद से बाहर निकाला कुछ–कुछ जैनेन्द्र जी के श्रेय–प्रेय की तरह।

अंत में मैं उन सभी आत्मीय जनों का आभारी हूं जिन्होंने इस शोधकार्य में मेरी सहायता की। धीरेन्द्र जी ने सहयोग के अतिरिक्त स्नेह भी खूब दिया। एक ही संस्था में भाई–बहनों के पढ़ने का जो अतिरिक्त लाभ होता है, वह कृत्तिका और अंकित से भरपूर मिला। शिवम ने रात–रात भर जग कर जिस तरह टाईपिंग का कार्य पूरा किया है, मैं सदैव उसका ऋणी रहूंगा। एक व्यक्ति और है जिसने अकादमिक मदद तो अपनी सीमा से बाहर जाकर की ही, मेरी हड़बडाहट और फ्रशट्रेशन को भी संभाला। शालिनी के सहयोग के बिना यह शोध कार्य पूरा न हो पाता। इन सभी का मैं हृदय से आभारी हूँ।

–शौर्यजीत सिंह

अध्याय–एक

मुक्ति का अर्थ एवं स्वरूप

1.1 प्रस्तावना

बहुचलित मुहाविरा है– 'मुक्ति मिल जाये', 'अरे! जल्दी मुक्ति मिले', 'मुक्ति मिल जाये बस!' कभी बिमारी से, कभी डर से, कभी शासन– सरकार से, तो कभी इन्तहाँ के क्षणों में उस क्षण मात्र से। जैसे–जैसे मनुष्यता आगे बढ़ती गई है, इस फरियाद का दायरा बड़ा होता गया है–स्त्री की मुक्ति, दासों की मुक्ति, दलितों–उपेक्षितों की मुक्ति, समाज की मुक्ति, राष्ट्र की मुक्ति, अजनबियत–अकेलेपन से मुक्ति आदि–आदि। इन सबमें 'मुक्ति मिल जाये' या 'मुक्ति होनी ही चाहिए' मुहाविरे की अर्थवत्ता यही है कि वे सीमाएँ जो घेरे हुए हैं, दूर हो जाएँ, अपर्याप्तताएँ मिट जाएँ और अपूर्णताएँ समाप्त हो जाएँ। मनुष्य हमेशा से अपने को और पूरा और स्वतंत्र करना चाहता रहा है– यही मनुष्य और मनुष्यता की एक मात्र चाह रही है।

यानी मुक्ति वह दशा है, जिसमें मनुष्य पूर्ण स्वतंत्रता को प्राप्त करता है। 'स्वतंत्रता' के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण और दार्शनिक अवधारणाएँ होने के कारण मुक्ति की भी अन्यान्य अवधारणाएँ विकसित हो गई हैं। आज तक के मुक्ति–संबंधी विमर्श को देखें तो वह दो ध्रुवों, और उनके बीच किसी स्थान पर खड़ा मिलता है। आर्थर कोसलर ने इन ध्रुवों और इनके बीच के पड़ावों को बड़े सटीक प्रतीकों से व्याख्यायित किया है। ये प्रतीक इनकी बहुचर्तित पुस्तक का शीर्षक भी हैं–'The Yogi and The Commissar'.इसमें एक के लिए मुक्ति केवल आंतरिक है (with in), तो दूसरे के लिए केवल वाह्य (Without)। कोसलर ने भौतिक विज्ञान की एक परिघटना के रूपक के माध्यम से अपनी बात कही है कि अगर सामाजिक व्यवहार को एक किरण पुँज के रूप

में किसी ऐसे सामाजिक स्पेक्ट्रोस्कोप से गुजारा जाये, जिसमें मनुष्य जीवन की सारी सम्भावनाएँ रंगीन स्पेक्ट्रम्स में दिख जायें तो ऐसे वियोजन के एक छोर पर, इन्फ्रारेड छोर पर 'कम्मिसार' होगा। जिसके बारे में कोसलर लिखते है कि "The commissar believes in change fromwithout. He believes that all the pests of humanity including constipation and the oedipus complex, can and will be cured by revolution, that is, by a radical reorganization of the system of production and distribution of goods; that this end justifies the use of all means, including violence, ruse, treachery and poison; that logical reasoning is an unfailing compass and the universe a kind of very large clockwork in which a very large number of electrons once set into motion will for ever resolve in their predictable orbits; and that whosoever believes in anything else is an escapitst"[1]

इसी तरह स्पेक्ट्रम के दूसरे छोर पर; अल्ट्रावायलेट छोर पर योगी होगा। जिसके विषय वे लिखते हैं, " He has no objection to calling universe a clockwork, but he thinks that it could be called, with about the same amount of truth, a musical-box or a fish pond.He believes that the end is unpredicatable and that the means alone count. He rejects violence under any circumstances. He believes that logical reasoning gradually loses its compass value as the mind approaches the magnetic pole of truth or the absolute, which alone matters. He believes that nothing can be improved by exterior organization and everything by the indivisual effort from with in, and that whosoever believes in anything else is an escapist."[2]

कोसलर बताते हैं कि स्पेक्ट्रम के बीच में फैबियन्स, क्वैकर्स, लिबरल्स और फिलेन्थ्रापिस्टस् आते हैं। जो योगी और क्रांतिकारी के संश्लेषण न होकर समझौतों के कई रूप हैं और इन्हीं से विमर्श संभव हो पाता हैं। क्योंकि योगी के समीप शब्दों का कोई महत्त्व या अस्तित्व ही नहीं है और कम्मिसार से विमर्श करने पर वह विमर्शकर्ता को दबोच सकता है। योगी और कम्मिसार के आज तक संश्लेषित न हो सकने का

कारण बताते हुये कोसलर लिखते हैं, "The commissar's emotional energies are fixed on the relation between individual and society, the yogi's on the relation between the individual and Universe."[3]

मुक्ति के सन्दर्भ में इनका संश्लेषण इसीलिए आवश्यक है क्योंकि आंतरिक और बाह्य (Within and without) दोनों ही स्तरों पर व्यक्ति की अपूर्णताएँ यदि कम न की जा जाकर, एकरेखीय प्रयास किए जाते हैं तो जहाँ ऐसे प्रयास एक अपूर्णता कम करते हैं, वहीं दूसरे की सृष्टि भी साथ–साथ करते जाते हैं। एकरेखीय प्रयासों के इस तरह के परिणामों से आज तक इतिहास निर्मित हुआ है। यही कारण है कि भले ही उपाय न सुझा पाये, पर बार–बार ऐसी दर्शन प्रणालियों का विकास हुआ है, जिन्होंने आत्परकता के निषेध का डटकर विरोध किया है। अस्तित्ववादी चिन्तन का पूरा ढ़ाँचा इसी कमी की बुनियाद पर खड़ा हैं। मुक्ति के सन्दर्भ में सबसे बड़ी समस्या यही आन्तरिक और बाह्य को संश्लेषित करने की समस्या है।

मुक्ति की समस्या पर विचार करने का दूसरा रास्ता भी दर्शन की सार्वकालिक लड़ाई पर टिका है, जो इसी 'within' और 'without' की समस्या का सैद्धान्तिक प्रत्यय है। सभी दर्शनों को चेतना और पदार्थ के प्रति उनकी संकल्पना के आधार पर भौतिकवादी और आदर्शवादी इन्हीं दो वर्गो में विभाजित किया जाता है। वे दर्शन प्रणालियाँ जो पदार्थ से चेतना के विकास को स्वीकार करती है, भौतिकवादी वर्ग में आती हैं और इनसे उलट चेतना से प्रारम्भ करने वाले दर्शन आदर्शवादी वर्ग में आते हैं। आदर्शवादियों के अनुसार चूँकि चेतना पूर्ण एवं स्वतंत्र है, पर वह पदार्थ के रूप में या पदार्थ के साथ क्रिया करके अपने को प्रतिभासित करती है। अतः इन क्रिया–व्यापारों से अलग इसकी निरपेक्ष मुक्ति अनिवार्य हो जाती है। इसके विपरीत भौतिकवादी प्रणाली में इस तरह की किसी भी निरपेक्ष मुक्ति की कोई स्थिति नहीं है। इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति के नियमों द्वारा सीमित है, वह बस उन्हें जानकर, उन्हें

अपने अनुकूल बना सकता है और वह जितना इस कार्य में सफल होगा, उतना ही स्वतंत्र होता चला जायेगा। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपनी किताब 'भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत' में भारतीय दर्शन प्रणालियों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला है कि लोकायत को छोड़कर वे प्रणालियाँ जो प्रारम्भ में भौतिकवादी थी धीरे–धीरे उन्होनें आदर्शवाद के सामने घुटनें टेक दिए। इनमें सांख्य, न्याय–वैशेषिक शामिल हैं। भौतिकवादी विचारों के विकसित न हो सकने के कारण ''प्रकृति पर अधिकार या नियंत्रण हासिल करने की ओर प्रेरित न करके आदर्शवाद पलायन और प्रतिगामी सोच, परजीवी जीवन की शिक्षा देता रहा।''[4] लोकायत जिनमें ये संभावना थी, वे अपने विचारों को किसी व्यवस्थित परिणति तक न ले जा सके।

इस संदर्भ में दृष्टव्य है कि प्रबोधन काल और उसके बाद के यूरोपीय दार्शनिक प्रकृति पर अधिकाधिक नियंत्रण करने की वकालत करते दिखाई पड़ते हैं। यह मानसिकता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वे औपनिवेशिक शासन को इसी आधार पर जायज ठहराने लगते हैं कि उपनिवेश अपने संसाधनों का सर्वोत्तम दोहन करने में अक्षम हैं जैसा कि जॉन लॉक के विचारों से स्पष्ट है, "Locke justified the British colonist's occupation of land belonging to American Indian. Locke argued that the American Indians did not know how to fully utilize the land; hence the land was justly available for appropriation."[5]

प्रकृति पर मानव के अधिकाधिक नियंत्रक की चाह को फ्रायडीयन मनोविज्ञान में 'मृत्युइच्छा' की ग्रन्थि से बचने के उपाय के रूप में देखा गया है। चूँकि प्रकृति मनुष्य के जीवन को सीमिति करती है और मृत्यु इसकी सबसे बड़ी सीमा है, तो मनुष्य प्रकृति को अधिकाधिक नियंत्रित करके 'मृत्युइच्छा' की ग्रंथि से अपना बचाव खोजता है।

इस विवरण के परिपेक्ष्य में ईशावास्योपनिषद का पहला श्लोक दृष्टव्य है–

''ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विदधनं।''[6]

भाष्यकारों ने इस श्लोक का प्रायः आध्यात्मिक अर्थ लगाया है और श्रीमदभगवदगीता के कर्मफल त्याग के दर्शन की पृष्ठभूमि में अधिकांशतः इस श्लोक को उद्धृत किया जाता है। परन्तु यदि इस श्लोक के त्यागपूर्वक भोग को आज के 'Sustainable development' की अवधारणा के साथ समझा जाये तो यह आध्यात्मिक अर्थ के साथ आदर्शवादी प्रणाली की उपयोगिता को भी स्पष्ट कर सकेगा। 'ईष्' धातु जिससे ईश्वर शब्द बनता है, का अर्थ है 'नियम'। इस प्रकार ईश्वर का अर्थ ठहरता है 'नियमों में श्रेष्ठ'। जब यह सब कुछ 'श्रेष्ठ नियम' के अधीन है तो उसका अतिरिक्त दोहन निश्चित ही विनाशकारी परिणाम उपस्थित करेगा। आज उसी विनाशकारी परिणाम को सर्वत्र देखकर पश्चिम से ही Sustainable development की बात शुरू की जा रही है। जहां प्रबोधन काल के चिन्तक प्रकृति पर अधिकाधिक अधिकार की वकालत करते नजर आते हैं। वही 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' की प्रतिज्ञा के साथ आगे बढ़ने वाली भारतीय मनीषा ने जितनी भी प्राविधिक उन्नति की, हर समय वह प्रकृति के अत्याधिक दोहन को गलत मानती रही। आयुर्वेद, वृक्षायुर्वेद, कृषि–संहिता से लेकर शिल्प–स्थापत्य और नगर जीवन की तमाम उन्नतकारी शैलियों का विकास करते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में ऐसी प्रणाली विकसित की जाये जिससे प्रकृति की धारणीयता प्रभावित न हो।

यह श्लोक एक साथ प्रकृति पर अधिकार करने के भौतिकवादी उपागम की सीमा और उसके मनोवैज्ञानिक आधार (मृत्यु इच्छा ग्रन्थि की से बचने के उपाय) दोनों से उबार लेता है। और यह आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण ही संभव होता है। चेतना की मुक्ति मानने के कारण इन दर्शनों के सम्मुख मृत्यु मनुष्य के कर्म की सीमा नहीं बनती। इसलिए वह मनोवैज्ञानिक आधार ही खत्म हो जाता है जिसके कारण फ्रायड़ को प्रकृति पर विजय को मृत्युइच्छा से पलायन या बचाव के रूप में देखना पड़ा था।

फिर भी देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय का आरोप अंशतः तो सही ही ठहरता है। चेतना की ही मुक्ति मानने के कारण ये दर्शन जब सामंजस्य की जगह शुद्ध आदर्शवाद की ओर मुड़ते हैं तो समाज व्यवस्था के संदर्भ में प्रतिगामी और परजीवी रूप ले लेते हैं। अद्वैत वेदान्त के संबंध में ये आरोप बहुत हद तक सत्य है।

ऐसे में आवश्यकता उन दर्शन–प्रणालियों की पड़ती है जो दोनों के साम्य के साथ मुक्ति की अवधारणा को प्रस्तुत करें। मनुष्य की अपूर्णताएँ दोनों किस्म की हैं–आधिभौतिक और आध्यात्मिक। अतः उसकी सार्थक मुक्ति के लिए ऐसी व्यवस्था और प्रणाली की आवश्यकता है जो उसे दोनों ही ओर से पूरा करे।

1.2 भारतीय षड्दर्शन में मुक्ति

चार्वाक प्रणाली

मुक्ति की अवधारणा के सन्दर्भ में लोकायत या चार्वाक प्रणाली का विशिष्ट महत्त्व है। दूसरे आन्वीक्षकी मत भी अपने उत्तरवर्ती दौर में आदर्शवाद की ओर मुड़ गए। परन्तु लोकायत प्रणाली, भारतीय षड़दर्शन प्रणाली में भौतिकवादी विचारधारा की पूर्ण प्रतिनिधि बनी रही। इस दर्शन प्रणाली के नाम में इसके सिद्धान्तों की छाया स्पष्टः दिखायी दे जाती है। यह दर्शन की ऐसी प्रणाली है, जो इस लोक में विश्वास करती है–स्वर्ग, नरक या मुक्ति की अवधारणा में विश्वास नहीं करती। नए और पुराने अध्येता विद्वानों ने भी इस दर्शन प्रणाली के सिद्धांतों और इसके नाम के साम्य के संबंध में प्रकाश डाला है। मध्यकालीन जैन दार्शनिक हरिभद्र ने 'लोकायत' के सन्दर्भ में लोक का अर्थ किया है– भौतिक जगत मात्र, जिसे इन्द्रियों के द्वारा देखा जा सकता है। हरिभद्र के शिष्य मणिभद्र ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'लोक' शब्द समूचे भौतिक व्यापार का द्योतक है। दासगुप्ता ने लोकायत का शाब्दिक अर्थ बताया है कि वह जो लोक अर्थात् जनता में पाया जाये। चार्वाक के सिद्धान्त इसी नाम से जनता में पाये जाते रहे हैं। राधाकृष्णनन् के मत को देखें तो उनके अनुसार 'लोकायत' संस्कृत

में 'भौतिकवादियों' के लिए प्रयुक्त शब्द है और भारतीय भौतिकवादियों को आम तौर पर लोकायित कहा जाता रहा है। 'वृहस्पति', 'पदार्थ ही प्राथमिक है,' के मत का प्रतिपादन करने वाले लोकायितों के आद्य–पुरूष हैं, जो एक ऋगवैदिक ऋषि हैं। परन्तु इस विचार–प्रणाली का सबसे बड़ा पुरस्कर्ता चार्वाक है।

इस प्रणाली के विषय में 'सर्वदर्शन संग्रह' की भूमिका में दिया गया है, ''After discussing the very name ' Càrvàk (Càru= pleasant, vàk= speech) and Lokàyàtika (a universal acceptance), the author discusses the meta-physics of the càrvàkas that there are four elements, consciousness being an outcome of these when put togather. There is only pleasure, though replete with misery, to be the highest good. Vedas and sacrifices injoined there are deceptive-only framed by frauds for their livelihood. God, Liberation and soul are but the objects of this very life."[7] आगे कहा गया है– "It is noticeable that it is the present work alone where such a long and clear exposition of the materialist theory is found in the whole history of Sanskrit literature. There are references to the càrvàkas in other systems as well, but they are all in the form of quotations cited on behalf of the oppositionists repudiating a particular tenet of a system. A complete account of the Càrvàkas as a separate system can be found only in the sarvadarsanasamgraha and a few verses in the ṣaḍ-darsana-samuccaya as well."[8]

हिन्दी सर्वदर्शनसंग्रह की इस भूमिका में उसके अनुवादक लोकायत दर्शन को एक पूरी परिपाटी के रूप में मध्वाचार्य के द्वारा विश्लेषित किए जाने को उदारता के कृत्य के रूप में देखते हैं। तो वही के॰ दामोदरन अपनी किताब भारतीय चिन्तन परम्परा में माध्वचार्य के लोकायत संबंधी विश्लेषण–वर्णन को पक्षपातपूर्ण मानते हुए लिखते हैं, ''ईसवी सन् पंद्रहवीं शताब्दी के माध्वाचार्य ने भी जो वेदांत प्रणाली के आदर्शवादी दार्शनिक थे, अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में लोकायत सिद्धांतों को विकृत करके प्रस्तुत करने में कोई कसर नहीं उठा रखी।''[9] वे आगे लिखते हैं ''इस महान दार्शनिक

प्रणाली के अध्ययन के लिए, जिसका भारत के सामाजिक जीवन पर इतना जबर्दस्त प्रभाव था, हमें आज इस प्रणाली के कट्टर दुश्मनों द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्याओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इन शत्रुतापूर्ण टीकाकारों ने लोकायत को एक ऐसा दर्शन बताया है जो तमाम नैतिक संहिताओं का विरोधी था, जो भ्रष्ट भौतिकवाद से ओतप्रोत था और जनता को यह परामर्श देता था कि लौकिक सुखों का अनियंत्रित आस्वादन करने के लिए दूसरों से धन उधार लेना भी बुरा नहीं है। इस तरह हमें इस स्थिति में पहुंचा दिया गया है कि लोकायत के बारे सच्चाई खोजने के लिए हमें उस उछाले गए कीचड़ के दलदल में डूबना पड़ता है।''[10]

लोकायतों का मत है–

''तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजयते। विनष्टेसु सत्सु स्वयं विनश्यति।''[11]

(चार्वाक के मत से पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) चार ही महाभूत तत्त्व हैं। (प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के कारण आकाश तत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है।) जैसे किण्वन आदि मादक–द्रव्यों से मादक शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर के रूप में बदल जाने पर इन्हीं (चारों) तत्त्वों के संयोजन से चैतन्य उत्पन्न होता है। इनके नष्ट हो जाने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है।)

प्रत्यक्ष मात्र को ही प्रमाण मानने के कारण चार्वाक दर्शन ने निरपेक्ष चेतना की सत्ता को अस्वीकार कर दिया। देह से इतर निरपेक्ष आत्मा के स्वरूप का इस मत में दृढ़ता से खण्डन किया गया है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट उद्घोषित करता है कि–

''अत एव कण्टकादिजन्यं दुखमेव नरकः। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। देहच्छेदो मोक्षः।''[12]

(इसलिए भौतिक कारणों से उत्पन्न दुःख ही नरक है। संसार में स्वीकृत राजा ही परमेश्वर है। देह या आत्मा का विनाश ही मोक्ष है।)

आन्वीक्षकी मत के दूसरे दर्शन–प्रणालियों को ''आदर्शवाद के अपने विरोध भाव के बावजूद मोक्ष संबंधी आदर्शवादी दृष्टिकोण का समर्थन करने को यदि विवश होना पड़ा तो मुख्यतः इस कारण कि वे आत्मा संबंधी अवधारणा को अपने विचारों में प्रश्रय देने लगे। एक बार यह मान लिये जाने पर कि आत्मा अथवा चेतना पदार्थ और भौतिक जगत से अनिवार्यतः एकदम भिन्न है, यह सोचना स्वाभाविक हो जाता है कि इसकी मुक्ति इसके अंतर्भूत स्वरूप की ओर लौटने में ही है।''[13]

मुक्ति के संदर्भ में लोकायत–प्रणाली की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि जहाँ दूसरे दर्शनों के अनुसार जीवन शाश्वतता में एक पीड़ाप्रद उपोद्घात मात्र है, वहीं लोकायत ही घोषणा करते हैं–

''न च अस्य दुःखसम्भिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्ति इति मन्तव्यम्। अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा–मत्स्यार्थी सशल्कान् सकण्टकान् मत्स्यानुपादत्ते। स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानिन धान्यानि आहरति, स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। तस्माद् दुःख मयात् नानुकूलवेदनीयं सुखं व्यक्तुमुचिम्।।''[14]

(ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दुःख से मिलाजुला होने के कारण (सुख) पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि हमलोग (सुख के साथ) अनिवार्य रूप से मिले–जुले दुःख को हटाकर केवल सुख का उपभोग कर सकते हैं। वस्तुतः संसार के सभी सुख, दुःख से युक्त होते हैं। ऐसा देखकर भी वस्तु से दुःख को हटाकर केवल सुख का ही आनन्द लिया जा सकता है। जैसे–मछली चाहनेवाला व्यक्ति छिलके और काँटों के साथ ही मछलियों को पकड़ता है, उसे जितने की आवश्यकता है उतना अंश लेकर हट जाता है, और जिस

प्रकार धान को चाहने वाला व्यक्ति पुआल के साथ ही धान ले आता हैं, जितना उसे लेना चाहिए उतना लेकर हट जाता है। इसलिए दुःख के भय से अनुकूल लगने वाले सुख को छोड़ना ठीक नहीं है।)

परम्परावादियों द्वारा इन व्यवहारिक उदाहरणों को गंवारूपन कहकर कटु आलोचना की गई है और लगातार आरोप लगाया गया है कि उन्हें जीवन के उदात्ततर और महानतर मूल्यों की जानकारी नहीं है। पर लोकायतों की दृष्टि में मोक्ष के नाम पर जीवन का निषेध कर दिया जाना उदात्ततर मूल्य नहीं या। बल्कि मानवप्राणी के रूप में अल्पकालिक जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग ही लोकयतों के लिए उनका तत्त्व–चिन्तन और उनका आदर्श रहा है। यही कारण है कि के॰ दामोदरन प्राचीन भारत में हुए वैज्ञानिक प्रगति के पीछे के दार्शनिक दृष्टिकोण के रूप में चार्वाक दर्शन की पीठिका को देखते है। कौटिल्य इसी कारण से राजपुत्रों के लिए सांख्य–योग के साथ चार्वाक दर्शन के अध्ययन की व्यवस्था करते हैं।

लोकायतों के संदर्भ अपने अंतिम निष्कर्ष में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय कहते हैं कि ''इन्होंने आदर्शवाद जो आस्थावाद का ही दूसरा रूप है के सभी प्रयासों और स्वार्थ सिद्धि के सिद्धान्तों का भौतिकवादी तर्कों के आधार पर खण्डन किया पर अपने नकारात्मक उत्तरदायित्व को पूरा कर लेने के बाद लोकायत कोई सकारात्मक दार्शनिक उपपत्ति निर्मित करने में अक्षम रहे।''[15]

सांख्य प्रणाली

सांख्य प्रणाली के विषय में डैवीज ने लिखा है, ''विश्व की उत्पत्ति, मनुष्य की प्रकृति और उनके पारस्परिक संबंधों तथा उनके भविष्य के बारे में प्रत्येक विचारवान मनुष्य के मस्तिष्क में उठने वाले रहस्यपूर्ण प्रश्नों के केवल युक्ति द्वारा उत्तर देने का अब तक उपलब्ध प्राचीनतम प्रयास है।''[16] इन दार्शनिकों ने तर्क और युक्ति के प्रति

अपना विश्वास प्रकट किया है और घोषणा की है कि ब्रह्माण्ड का उद्‌भव पदार्थ से हुआ है, प्रकृति विकास की प्रक्रिया में है और जीवन तथा शक्ति, विचार और चेतना पदार्थ की उपज हैं। अपने प्रारम्भिक रूप में सांख्य दर्शन निरीशवरवादी होने के साथ–साथ वैदिक मान्यताओं से सर्वथा मुक्त दर्शन था। परन्तु परवर्ती चरण में इसमें बहुत–सी वैदिक और आदर्शवादी परम्परा की मान्यताएँ जुड़ती गयी हैं। देवी प्रसाद चट्‌टोपाध्याय ने अपने विश्लेषण में दिखाया है कि सांख्य दर्शन की परवर्ती मान्यताएँ उसके प्रारम्भिक मत से इतनी भिन्न हैं कि यह दर्शन अंतर्विरोधों की पोटली बन कर रह गया है। संख्या–दर्शन की तत्त्व–मीमांसा और सत्ता–मीमांसा की अवधारणाएँ, उसमें बाद में विकसित हुये मुक्ति मीमांसा की अवधारणा से मेल नहीं खाती। चट्‌टोपाध्याय जी ने इसी को लक्ष्य करके बताया है कि शंकराचार्य द्वारा सांख्य दर्शन के सरलतापूर्वक उच्छेदन कर देने का यही कारण रहा है।

सांख्य दर्शन के विषय में प्रामाणित सामग्री है–सांख्य कारिका। इसके दो भाष्य उपलब्ध हैं–(1) गौड़पाद भाष्य और (2) दूसरा वाचस्पति मिश्र का सांख्य तत्त्व कौमुदी। पहले की रचना के विषय में अनुमान है कि यह ईसवीं सन् 8वीं शताब्दी की है और दूसरी के विषय में ईसवीं सन् 9वीं शताब्दी के होने का अनुमान है। 15वीं–16वीं शताब्दी के बीच विज्ञान भिक्षु का भी एक भाष्य 'सांख्य प्रवचन सूत्र' प्राप्त होता है। के॰ दामोदर ने अनुमान व्यक्त किया है कि ई॰ सन् दूसरी शताब्दी से पहले ही इस दर्शन के मूल विचारों में कई विशिष्ट परिवर्तन किए जा चुके थे। उपलब्ध सामग्री के आधार पर सांख्यदर्शन को समझने में यह अपने पूर्व और उत्तरवर्ती रूपों में असंगति का पिटारा मालूम पड़ता हैं। फिर भी मुक्ति संबंधी अवधारणा का प्रतिपादन सांख्य–कारिका के पहले अध्याय से ही प्रारम्भ किया गया है। इसमें कहा गया है कि जीवन का लक्ष्य हर प्रकार के दुख और पीड़ा को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा दूर करना है। मनुष्य के दुःख को तीन वर्गों में विभाजित किया।

(1)आध्यात्मिक यानि आंतरिक किस्म का दुख (2) दूसरा अधिभौतिक यानि बाह्य प्रकार का दुःख और (3) तीसरा आधिदैविक यानि अलौकिक प्रकार का दुःख। सांख्य दर्शन ने बलि और कर्म काण्ड द्वारा मुक्ति प्राप्त हो जाने के वैदिक मार्ग का डटकर विरोध किया है और प्रतिपादित किया है कि अविकसित पदार्थ, विकसित ब्रह्माण्ड और ज्ञाता के विषय में विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करके केवल अस्थायी रूप से ही नहीं, सदा के लिए इन तीनों प्रकार के दुखों से मुक्त हुआ जा सकता है। इन विषयों के ठीक–ठीक ज्ञान के लिए सांख्य दर्शन में 'सत्कार्यवाद' का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती (सत् कार्यम् असत अकारणायः) इस बात की सांख्य प्रवचन सूत्र में इस प्रकार बताया गया है, ''न कुछ में से कुछ को नहीं उत्पन्न किया जा सकता। जो कुछ नहीं है, इसे कुछ में से विकसित नहीं किया जा सकता। जो (सार रूप में) अभी भी अस्तित्व में नहीं है उसको अस्तित्व में लाना असंभव है, जैसे मनुष्य के सिर पर सींग उत्पन्न करना। कारण यह कि कोई न कोई ऐसा पदार्थ अवश्य होना चाहिए जिससे उत्पादित की जाने वाले वस्तु विकसित की जाए, क्योंकि कोई चीज हर जगह पर हर समय मौजूद नहीं हो सकती। किसी संभव वस्तु को उसमें से ही उत्पादित किया जा सकता है, जिसमें उसे पैदा करने की क्षमता हो।''[17]

इस प्रकार सत्कार्यवाद के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत कार्यकारण की अनवरत श्रृखंला है। किन्तु इस सबका मूल कारण क्या है? इस संबंध में सांख्य दर्शन की मान्यता है कि आद्य पदार्थ या प्रकृति सब चीजों का मूल कारण है। सभी वस्तुएँ, जिनमें हमारा शरीर और मस्तिष्क, बुद्धि, इन्द्रियाँ सभी हैं, प्रकृतिक के रूपान्तर का परिणाम है। परन्तु इस प्रकृति या आद्य पदार्थ का कोई कारण नहीं है। कपिल ऋषि ने इसे 'मूले मूलाभावादमूलं मूलं' यानि 'मूल में मूल का अभाव होने से, (प्रत्येक वस्तु का) मूल अमूल है' ऐसा बताया है। और स्पष्ट शब्दों में कहे तो–''प्रकृति अथवा आद्य पदार्थ

एक शाश्वत, अकारण, सर्वव्यापक और स्वतंत्र है। वह देखने वाले अथवा ज्ञानी से स्वतंत्र है।''[18]

यह अविकसित प्रकृति, विकसित वस्तुओं का कारण बनती है। के॰ दामोदरन ने अविकसित प्रकृति और विकसित वस्तुओं के बीच के भेद की सांख्य कारिका की परिभाषा को स्पष्ट किया है–''विकसित वस्तु, कारण से उत्पन्न होती है। वह अ–शाश्वत, असर्वव्यापी, चल, बहुरूपी, परनिर्भर, विलयनात्मक, युग्मतापूर्ण (अर्थात् अंगी सहित) और विषमतापूर्ण होती है, अविकसित प्रकृति इन सबकी उल्टी है। यह संभव है कि अविकसित को हम देख न सकें, परन्तु वह अस्तित्व में होती है। उसकी (अर्थात् प्रकृति की) अप्रत्यक्षता इससे अक्षम रूप के कारण है, न कि उसके अनस्तित्व के कारण, क्योंकि उसके भाव से उसकी प्रत्यक्षता प्रकट है।''[19]

अपनी तमाम भौतिकवादी प्रकृति के बाद भी मुक्ति के सन्दर्भ में विचार करते ही सांख्य दर्शन आदर्शवाद की ओर झुक जाता है। तात्त्विक दृष्टि से शुद्ध आदर्शवादी दर्शन–अद्वैत वेदान्त से स्पष्टता सांख्य की मुक्ति अलग किस्म से परिभाषित होती है। परन्तु दोनों ही रूप रहते आदर्श के ही हैं। इसे देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने बड़े सटीक ढंग से दर्ज किया है, ''यह अवधारणा अद्वैत वेदान्त की अवधारणा से किस प्रकार भिन्न है? तर्क के रूप में कहा जाता है कि सांख्य दर्शन मे जहां अन्य प्रत्येक वस्तु से आत्मा की भिन्नता का विवेक–इसके पूर्ण विलगाव का विवक अथवा कैवल्य – मोक्ष का कारण होता है, वहां वेदांत दर्शन में प्रत्येक वस्तु से आत्मा के तादात्म्य का बोध ही मोक्ष का कारण होता है। वेदांतवादी कहते हैं कि आत्मा सर्वव्याप्त है। सांख्य दर्शनवेत्ता कहते है कि आत्मा प्रत्येक वस्तु से पूर्णतया पृथक है। यही वह मुख्य बिन्दु है, जिस पर मोक्ष संबंधी दोनों अवधारणाओं में भेद बताया जाता है।''[20]

योग

योग को सांख्य की अनुसांगिक प्रणाली कहा जाता है। इसके प्रणेता पतंजलि से काफी पहले के कहे जाते हैं। पतंजलि का श्रेय यह है कि अपने पूर्व के योग संबंधी ज्ञान को उन्होंने एक जगह एकत्र करके उसे एकीकृत और व्यवस्थित किया जिसमें क्रियाविधि और विचार पक्ष दोनों सम्मिलित हैं साथ ही इस पूरे ज्ञान को सांख्य तत्त्ववाद से जोड़कर ऐसा रूप दिया जो आज तक प्रचलित है। इनके योगसूत्र को देखने से भी विद्वानों ने यही अनुमान लगाया है कि यह पतंजलि की रचना न होकर उनके द्वारा किया गया संग्रह है। योग और सांख्य का लक्ष्य लगभग एक ही है। पतंजलि का उद्देश्य कपिल की अवधारणाओं को व्यवहारिक रूप देना प्रतीत होता है। पतंजलि का महत्त्व किसी भी दर्शनिक से अधिक इस कारण से है कि जहाँ अन्य सभी वैचारिक स्तर पर सिद्धातों का निरूपण करते रहें हैं, ये चिन्ता किए बिना कि सामान्य जन के लिए ये सिद्धान्त किस रूप में उपयोगी और व्यवहार्य होगा; पतंजलि ने योग का ऐसा सर्वांगीण शास्त्र निरूपित किया जो किसी भी व्यक्ति के लिए सरलता से अनुकरणीय और व्यवहार्य है। अष्टांग योग प्रणाली की विशिष्टता ही यही है कि ज्ञान और भाव के क्षेत्र में पिछड़ा से पिछड़ा व्यक्ति इस पर चल कर लक्ष्य हासिल कर सकता है। जैसे भारतीय शास्त्रीय संगीत ये घोषणा करता है कि हर कोई गायक हो सकता है और अपनी इसी प्रतिज्ञा के अनुरूप भारतीय शास्त्रीय संगीत ने अपने शिक्षण की प्रविधि को विकसित किया है। वैसे ही योग प्रणाली के मत के अनुसार हर कोई योग के पूर्ण लक्ष्य असमप्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर सकता है। जैसे–स्वर, श्रुतियों, कण, झाला, मीण, मुरकी, गमक आदि के अभ्यास के माध्यम से कलाकार को राग की शिक्षा दी जाती है और इन्हीं के अभ्यास के माध्यम से कलाकार राग के पूर्ण व्यकित्व को पकड़ पाता है। ठीक उसी प्रकार पतंजलि द्वारा प्रणीत अष्टांग योग यानी–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि के चरण बद्ध उपक्रमों के माध्यम से साधक को समाधि प्राप्त होती है।

पतंजलि ने योग को चित्तवृत्ति के निरोध के रूप में परिभषित किया है (योगः चित्तवृत्ति निरोधः)। चित्त के अन्तर्गत तीन तत्त्व आते हैं–सत, रज और तम। चित्त इंद्रियों के बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर प्रभावित होता है। इस प्रभाव से पांच प्रकार के उपाकरण होते है– यथार्थ ज्ञान, अयथार्थ ज्ञान, कल्पना, सुषुप्ति और स्मृति। योग की अवस्था में चित्त को आत्म प्रशिक्षण और इच्छाओं के समाहार द्वारा संज्ञान और कल्पना आदि की अभिव्यक्तियों से हटा लिया जाता है। यानी योग में अध्यात्मिक प्रयास द्वारा शरीर और मन पर पूरा नियंत्रण स्थापित कर पूर्णता प्राप्त की जाती है।

पतंजलि और वेदान्तियों के लिए योग की अलग–अलग उपायदेयता है। वृहदारण्यक उपनिषद के साक्ष्य पर कहें तो वेदांतियों के लिए योग–आत्मज्ञान का साधन है, जिसके द्वारा आत्मा का साक्षात्कार उसकी आवाज सुनना, उस पर विचार करना और गम्भीरता से चिन्तन करना शामिल है। जबकि योग प्रणाली का उद्देश्य, ''आत्मा की वास्तविकता को मन के वस्तुनिष्ठ उपयोग के द्वारा नहीं, वरन उसकी क्रियाओं का दमन करके तथा मन की उस निचली सतह में पहुँचकर जो हमारे दैनिक जीवन और क्रिया–कलापों के द्वारा हमारे दैवी स्वरूप को छिपाये रहता है, प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार योग का लक्ष्य परमानन्द की अवस्था के माध्यम से, जिसमें आत्मा अथवा मैं–भौतिक जगत के यथार्थ से पूर्णतः अलग कर लिया जाता है, पूर्णता को प्राप्त करना होता है।''[21]

अतः योग सत्य की खोज के साथ–साथ इसे प्राप्त करने की व्यवस्थित प्रणाली है।

मीमांसा

मीमांसा शब्द का अर्थ होता है– सुव्यवस्थित अन्वेषण। परम्परा में मीमांसा की दो पद्धतियाँ मौजूद है–पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा में वेदों के पूर्व अंगों

पर विशेष ध्यान दिया गया है जिनमें ब्राह्मण, आरण्यक आदि शामिल हैं और उत्तर मीमांसा में वैदिक वाङ्गमय के अंतिम अंग उपनिषदों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। यही कारण है कि उत्तर मीमांसा यानी वेदान्त विचारात्मक दर्शन है, जबकि पूर्व मीमांसा जो केवल 'मीमांसा' के नाम से व्यवहरित होने लगा है व्यवहारवादी दर्शन है। मीमांसा के पहले आचार्य के रूप में जैमिनी का नाम सामने आता है, जिनकी रचना 'मीमांसा सूत्र' है। षडदर्शन के आधार ग्रन्थों में मीमांसा सूत्र सबसे बड़ा संग्रह है। इसमें 12 अध्यायों में 3000 सूत्र संकलित है। मूलतः मीमांसा वेदों के कर्म काण्डीय भाग का विस्तार पूर्वक विवेचन करती है और प्राचीन मान्यता में स्वीकृत मानव जीवन के तीन लक्ष्यों–धर्म, अर्थ, काम को अपने विश्लेषण का विषय बनाती है। कर्मप्रधान दर्शन होने के कारण मीमांसा सूत्र का प्रारम्भ ही धर्म–अधर्म की विवेचना के लिए पैदा होने वाली जिज्ञासा से होता है–'अथातो धर्म जिज्ञासा'।

जैमिनी ने वेदों को अपौरूषेय माना है। यानी वेद शाश्वत और स्वयंभू हैं। वे किसी की रचना नहीं हैं। जैमिनी का यह मत किसी अंधविश्वास पर आधारित नहीं है, बल्कि इसके लिए उन्होंने तर्क प्रस्तुत किया हैं। जैमिनी के इस तर्क को 'नितय शब्द सिद्धांत' के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार वेदों का परम सत्य शब्दों के माध्यम से प्राप्त किया जाता है और स्वर ने ही शब्दों का रूप धारण किया है। मीमांसा के आलोचकों ने इस सिद्धान्त पर प्रश्न उठाया है कि शब्द तो अन्ततः एक प्रकार की रचना ही है, अतः वेद शाश्वत या अनादि नहीं हो सकते। जैमिनी ने इस आरोप का समाधान प्रस्तुत किया है– ''शब्द ठीक वे ही ध्वनियां और नाद नहीं हैं, जिन्हें हम सुनते हैं। वक्ता बोलता है और स्रोता जो सुनता है, वह केवल शब्द की ध्वनि होती है। शब्द वास्तव में अक्षर से रचे जाते हैं, जो स्थिर और शाश्वत हैं। ध्वनि शब्दों को स्पष्ट करती है। जैमिनी इस बात से तनिक भी विचलित नहीं थे कि भिन्न स्थानों पर अलग–अलग समय में अक्षरों का अलग–अलग प्रकार से उच्चारण किया जाता है। [22]''मीमांसकों का सारा जोर 'नित्य शब्द सिद्धांत' को स्थापित किए जाने में

ही लग गया। उच्चारण और व्याख्या में होने वाले परिवर्तन को वास्तविक न मानकर ये शब्द को शाश्वत मानते रहे। इसके लिए इन्होंने एक दूसरा तर्क भी दिया है कि जैसे सूर्य की किरण वस्तु को प्रकाशित करती है उसे रचती नहीं, वैसे ही शब्दोच्चार केवल वेदों की ध्वनि को व्यंजित करते हैं, वेदों की सृष्टि नहीं करते।

वेदों को शाश्वत मानने के कारण मीमांसा ऐहिक सुखों के पूर्ण निषेध से प्राप्त होने वाली किसी मुक्ति या मोक्ष को अपने चिन्तन में स्थान नहीं देती। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने जैमिनी सूत्रों और उसके भाष्यकार 'शबर' के माध्यम से दिखाया है कि प्रारम्भिक मीमांसा में मोक्ष की अवधारणा के लिए कहीं कोई स्थान नहीं था। इसके प्रमाण के रूप में वे बताते हैं कि मीमांसा सूत्रों की रचना उपनिषदों के बाद हुयी है और वैदिक–वाङ्गमय का उपनिषद एक बड़ा अंग है। अतः ये संभव नहीं है कि जैमिनी और शबर औपनिषदिक मोक्ष की अवधारणा से अवगत न हो। परन्तु अपने सम्पूर्ण विवेचन में दोनों ने ही मोक्ष को स्थान नहीं दिया है। इसका कारण भी स्पष्ट है–मीमांसा कर्म प्रधान दर्शन है और मोक्ष की अवधारणा में कर्म से ही निवृत्ति की आवश्यकता को रेखांकित किया जाता है। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने मीमांसा प्रणाली में मुक्ति को मनोवैज्ञानिक सुखवादी की भाँति 'आनंद ही जीवन का परम लक्ष्य है' के सिद्धान्त में विश्वास के रूप में देखा है।

मीमांसा के पूर्व पक्ष में इसी कारणवश आत्मा, स्वर्ग, नरक को परम्परा–प्रचलित अर्थों से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। मीमांसा दर्शन में आत्मा के स्वरूप को बताते हुए के॰ दामोदरन ने लिखा है, ''मीमांसा आत्मा के अस्तित्व से इन्कार नहीं करती। किन्तु शाश्वत होते हुए भी आत्मा न तो पदार्थ से असम्बद्ध है और न कर्म से स्वतंत्र है। आत्मा और शरीर मिलकर एक इकाई का निर्माण करते हैं। यह इकाई है–मनुष्य। मनुष्य स्वभाव से ही गतिमान होता है। परन्तु आत्मा कुछ सीमाओं के अंतर्गत कार्य करती है। इनमें से पहली सीमा तो स्वयं भौतिक शरीर है। आत्मा को

जिन कष्टों और पीड़ाओं का अनुभव होता है, उनका कारण यह भौतिक शरीर है। दूसरी सीमा इन्द्रियों तथा अन्य अंगों की है, जिनके माध्यम से आत्मा बाह्य जगत से संबंध स्थापित करती है। तीसरी सीमा स्वयं बाह्य जगत है, जो सभी व्यक्तियों के जीवन्त अनुभवों का आधार है। इस प्रकार मीमांसा ने बाह्य जगत से मनुष्य के संबंधों की व्याख्या की। किन्तु मीमांसा के अनुसार आत्मा कोई अपरिवर्तनशील, अचल, अवधारणा नहीं है। बाह्य जगत के समान आत्मा में भी परिवर्तन होते हैं। मीमांसा में इस जगत को भी एक गतिशील यथार्थ माना है।''[23]

इस प्रकार मीमांसा की आत्मा संबंधी अवधारणा वेदान्त से नितान्त भिन्न है। मीमांसा के प्रारम्भिक रूप में मोक्ष से अलग शेष तीन पुरुषार्थों को ही चरम लक्ष्य माना जाता था। इसीलिए उनके स्वर्ग की अवधारणा भी लौकिक है, जहाँ अगाध सुख है। इसे तो स्वयं शंकराचार्य ने अपने विवेचन में स्पष्ट किया है। अतः मीमांसकों को मुक्त होने वाली चेतना की आवश्यकता ही नहीं थी। इसी कारण से पारलौकिक स्वर्ग भी उनके लिए उतना उपादेय नहीं था। पर बाद के आचार्यों ने मोक्ष की अवधारणा को प्रश्रय दिया प्रभाकर और कुमारिल दोनों के चिन्तन का झुकाव मोक्ष की ओर होता गया। जबकि वे स्पष्ट देख रहे थे कि ऐसा करने से मीमांसा का पुराना ढाँचा इस नये बदलाव में समायोजित नहीं हो पायेगा।

प्रभाकर ने श्रीमदभगवतगीता के एक श्लोक में मुक्ति के संदर्भ में मीमांसकों की उदासीनता पर किए गये व्यंग्य को ही इस ओर कदम बढ़ाने की प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है। देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि, ''पूर्व–मीमांसा में यह आत्मा संबंधी उदासीनता, मोक्षादर्श के प्रति उदासीनता के साथ पूर्णतः संगत है, क्योंकि जो मोक्ष प्राप्त करता है, उसे आत्मा के रूप में अभिहित किया जाता है। अतः यदि हम शंकर का यह मत स्वीकार कर लेते हैं कि आत्मा–संबंधी अवधारणा मीमांसा ने बाद में वेदांत से ली है, तो यह भी माना जा सकता है कि

परवर्ती मीमांसा साहित्य में हमें मोक्ष की जो चर्चा मिलती है, वह भी वेदान्त से ली गयी है।''[24]

वेदान्त या उत्तर मीमांसा

वेदान्त नाम से ही स्पष्ट है कि यह दर्शन वेदों के अंतिम भाग यानी उपनिषदों पर आधारित दर्शन है, परन्तु एक विशिष्टता के साथ। उपनिषदों में भौतिकवादी और आदर्शवादी दोनों किस्म के विचार जगह–जगह मिल जाते हैं और कहीं–कहीं तो परस्पर विरोध मत एक साथ ही मिल जाते हैं। उपनिषदों की इस सम्मिश्रणपूर्ण चिन्तन के बीच से बादरायण ने एक सुसंगत और एकीकृत आदर्शवादी प्रणाली का विकास किया। अतः वेदांत उपनिषदों के आदर्शवादी पक्ष पर आधारित दार्शनिक प्रणाली है। वेदान्त दर्शन का मूल ग्रन्थ 'वेदान्त सूत्र' या 'ब्रह्म सूत्र' है, जिसमें उपनिषदों के परस्पर विरोधी बातों के बीच सुसंगतता स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

वेदान्त दर्शन का मूल प्रस्थान यह है कि चेतना अथवा आत्मा ही हर वस्तु का मूल कारण है और हर वस्तु उसी में विलीन हो जाती है। अपनी इसी प्रतिज्ञा के आलोक में ब्रह्म सूत्र में औपनिषदिक चिंतन के विपरीत मतों को आदर्शवादी स्वरूप की ओर मोड़ा गया। ब्रह्म सूत्र में मुख्य प्रश्न उठाया गया है कि 'प्रकृति में गति का आद्य कारण क्या है।' और उत्तर दिया गया है कि 'ब्रह्म–जो परम तत्त्व है।' इसी के साथ सम्पूर्ण वेदान्त सूत्र और उसकी प्रणाली 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की ओर मुड़ जाती है।

जैसा कि स्पष्ट है, चिन्तन की आदर्शवादी प्रणाली होने के नाते वेदान्त दर्शन में भौतिकवादियों के मत (पदार्थ से चेतना का जन्म होता है) से उलट विचार प्रस्तुत किया गया है–''अचेतन पदार्थ तभी सक्रिय होता है जब उसमें ज्ञान की निर्देशक क्रिया हो।'' बादरायण ने सांख्य में वर्णित अविकसित पदार्थ या अचेतन पदार्थ से चेतना के विकास का खण्डन करके यह बताया कि ब्रह्म ही चेतन बुद्धि तत्त्व है और वह सभी

अस्तित्वमय वस्तुओं में गहरे से समाया हुआ है। वेदान्त में आत्मा को सांख्य की तरह अक्रिय न मानकर सभी क्रियाओं का स्रोत स्वीकार किया गया है, क्योंकि आत्मा, परमात्मा का ही रूप है और परमात्मा यानी ब्रह्म ही इस ब्रह्मण्ड का भौतिक कारण है। वेदांत के आत्मा और परमात्मा के संबंध में राधाकृष्णन् ने टिप्पणी की है, ''आत्मा वैयक्तिक चेतना का तत्त्व है और ब्रह्म इस ब्रह्माण्ड का अति–वैयक्तिक आधार है। दोनों का भेद शीघ्र ही लुप्त हो जाता है और दोनों समिलित कर दिए जाते हैं। ईश्वर अनुभवातीत दैवी तत्त्व ही नहीं वरन ऐसी ब्रह्माण्डीय आत्मा भी है, जो मानव व्यक्तित्व का आधार है और उसे नित नया बल प्रदान करने वाली शक्ति है। ब्रह्म, जो ब्रहमाण्ड का प्रथम तत्त्व है, आत्मन् के द्वारा, अर्थात् मनुष्य की अंतरात्मा द्वारा, पहचाना जा सकता है।''[25] यही पहचान आत्मा की मुक्ति है। साक्षात्कार के बाद मनुष्य ''स्वयं प्रकाशमान सत्य के समान, ज्ञानमय, आनन्दमय, निराकार, इंद्रियजित, निरभियान, निरंहकार हो जाते हैं और वे चाहे जिस रूप में ब्रह्म का चिन्तन करें, वे स्वयं ब्रह्म बन जाते है।''[26]

वेदान्त के सबसे प्रमुख और शक्तिशाली हस्ताक्षर बने आदि शंकराचार्य जिन्होंने 8 वीं शताब्दी में प्रस्थानत्रयी (उपनिषद, भगवद्गीता तथा ब्रह्म सूत्र) के भाष्य लिखकर नये सिरे से वेदान्त को परिभाषित करना प्रारम्भ कर दिया। जहाँ ब्रह्मसूत्र में 'ब्रह्म ही प्रकृति भी है', सूत्र का उल्लेख मिलता है। वहीं शंकराचार्य के मत में ब्रह्म से इतर सारा संसार मिथ्या है। ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों के इस मत पर बल दिया गया है कि ''आत्मा ही स्वयं परमात्मा है और यह ब्रह्माण्ड उसी पदार्थ से उत्पन्न हुआ है जिससे ब्रह्म। इसीलिए ब्रह्म को ब्रह्माण्ड का भौतिक तथा सक्षम कारण बताया गया है और कहा गया है कि ब्रह्म ने ब्रह्माण्ड को स्वयं अपने में से ही उत्पन्न किया है जैसे मकड़ा अपनी अंतर्वस्तु से जाल बुनता है। बादरायण के अनुसार सृष्टि और सृष्टकर्ता दोनों एक ही हैं।''[27]

शंकर के अद्वैत वेदानत के अनुसार भी मुक्ति का अर्थ ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेना है। परन्तु आदिकालीन वेदान्त से उनके मत की भिन्नता है और ये भिन्नता इतनी अधिक है कि लगता है शंकर ने पुराने वेदांत के कलेवर में सारा सिद्धान्त बदल कर नया कर दिया है। शंकराचार्य के विश्लेषण में केवल ब्रह्म ही सत्य है और ब्रह्म से इतर जो कुछ भी है सब मिथ्या है। परन्तु यह सब जो अनुभव और दृष्टि का विषय है उसे मिथ्या सिद्ध करना शंकर के लिए शेष रह गया था। इसके लिए शंकराचार्य ने 'माया' की अवधारणा का प्रयोग किया। शंकर का सारा दर्शन 'माया' को समायोजित करने में ही लगा दिखाई पड़ता है। क्योंकि अनुभव के सारे विषय को मिथ्या और अनुभवातीत को सत्य सिद्ध करने में जगह–जगह समायोजन की अनिवार्यता सामने आ जाती है। सैद्धान्तिक स्तर पर यह शंकराचार्य की बड़ी उपलब्धि है कि परम्परा में चले आ रहे आदर्शवादी मत को विशुद्ध आदर्शवाद के रूप में एक दार्शनिक ऊँचाई तक ले जा सके। शंकर के पहले वेन्दांत परम्परा में कभी भी इस शुद्धता के साथ आदर्शवाद का निरूपण नहीं किया गया था। इन समायोजनों के कारण शंकर की माया सर्वाधिक विवादित अवधारणा बनी। इसी को लक्ष्य करके के॰ दामोदरन ने लिखा है'' संक्षेप में शंकराचार्य के मायावाद का सुप्रसिद्ध सिद्धन्त यह हैः पारमार्थिक सत्ता अथवा ब्रह्म के दृष्टिकोण से माया तुच्छ है, तर्क विज्ञान की दृष्टि से वह अनिर्वचनीय है; किन्तु सामान्य अनुभव की दृष्टि से वही वास्तविक यथार्थ है।''[28]

हाँलाकि मुक्ति का लक्ष्य और स्वरूप अद्वैत वेदांत में भी आदिकालीन वेदान्त की तरह ही ब्रह्म को जान लेना रहा है। परन्तु दोनों में अज्ञान को अलग–अलग ढ़ग से विवेचित किया गया है। शंकर के मत से देखने पर सब कुछ ब्रह्म का अंश है, इस दृष्टिकोण से सर्वत्र समानता होनी चाहिए और समाज–सिद्धान्त के रूप में भी शंकर को इस समानता की घोषणा करनी चाहिए। लेकिन माया के प्रसार के बीच वे जागतिक ऊँच–नीच को वैध ठहरा देते है। इस प्रकार शंकराचार्य का मत शुद्ध आदर्शवाद की प्रतिष्ठा करता है, जिसमें चेतना की मुक्ति होती है, पर चेतना जिन

जागतिक प्रपंचों में घिरी है, उन प्रपंचों में स्तरीकरण का बना रहना ही उन्हें व्यवस्था मालूम पड़ती है।

1.3 मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद के संदर्भ में मुक्ति

मार्क्सवाद और मुक्ति

मार्क्सवादी स्वतंत्रता को ऐसी स्थिति नहीं मानता जिसमें व्यक्ति को अकेला छोड़ दिया जाना चाहिए। समाज से अलग व्यक्ति स्वतंत्रता का आनन्द नहीं उठा सकता। मार्क्सवादी दृष्टिकोण उपयोगितावाद की मान्यता को अस्वीकार करते हुए कहता है कि भिन्न–भिन्न व्यक्ति मिल–जुल कर एक समाज के रूप में अपने हित को देखें। अलग–अलग लोगों के स्वार्थ को मिला कर सर्व–हित को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। एंगेल्स ने विवशता और स्वतंत्रता में अंतर स्पष्ट किया है। विवशता की स्थिति में व्यक्ति प्रकृति के नियमों से बंधा होता है और व्यक्ति के अनुसार कुछ भी संचालित नहीं होता। एंगेल्स कहता है कि स्वतंत्र होने का अर्थ इन प्राकृतिक नियमों से मुक्त हो जाना नहीं है बल्कि इन नियमों के बारे में जानकर, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इनका उचित प्रयोग किया जाना है। परन्तु यह स्वतंत्रता पूर्ण मायने में नहीं है क्योंकि बाहरी प्रकृति को नियंत्रित करते–करते मनुष्य अपनी आंतरिक प्रकृति को भूला बैठा है। उत्पादन–शक्तियों (Forces of production) ने मानव समाज को प्रारम्भ से ही दबा रखा है।

मार्क्स के अनुसार, भौतिकवादी जीवन संबंध (Material living relation) न कि कानूनी संबंध (legal relation) समाज के विकास का आधार है और ये material living relation ही समाज के बंटवारे के बारे में बताते हैं। मार्क्स के अनुसार, money-system के concept को प्रतियोगिता, निजी सम्पत्ति, मजदूरी, बाजार, तथा लाभ के संबंध के रूप में समझना चाहिए। एक वर्ग विशेष के हाथ में पूँजी होने के कारण वह उत्पादन के

साधनों पर अपना स्वामित्व स्थापित कर के जनसाधारण का शोषण करता रहता है। वहीं, वह वर्ग जिसके पास पूँजी नहीं है, पूँजीपतियों के अधीन काम करके अपनी आजीविका कमाता है। इस प्रकार से यह समाज दो भागों में विभाजित हो जाता है–संपत्ति का स्वामी और सम्पत्तिहीन।

मार्क्सवाद मजदूर की स्थिति पर ध्यान देते हुए यह कहता है कि मजदूर इस मुक्त बाजार व्यवस्था में अपनी आजीविका अर्जित करने में इस प्रकार व्यस्त हैं कि वह realization of objectification से भी अनजान है। जब मजदूर अपना श्रम लगा कर किसी object को material में परिवर्तन कर देता है जिससे कि बाजार में उसकी कीमत हो जाती है तो इस प्रक्रिया को श्रम का objectification कहते हैं, किन्तु बाजार तंत्र की प्रतियोगिता मे उलझे रहने के कारण मजदूर इस objectification के ज्ञान से बहुत दूर है। मार्क्स का मानना है कि यहीं से अलगाव का सिद्धान्त जन्म लेता है। अपना सारा परिश्रम लगाने के बाद भी वह उत्पाद उसका न होकर उस पूँजीपति का हो जाता है, जिसके अधीन वह काम कर रहा है। अगर देखा जाए तो alienation same as religion है। जिस प्रकार से मनुष्य जितना अधिक ईश्वर में समर्पित होता है, उतना ही स्वयं से दूर होता जाता है, उसी प्रकार से मजदूर जितना अधिक श्रम लगाता है, उतना ही उत्पादन उससे अलग होता जाता है। "The worker becomes all the poorer the more wealth he produces, the more his production increases in power and range. The worker becomes an ever cheaper commodity the more commodities he creates. With the increasing value of the world of things proceeds in direct proportion the devaluation of the world of men. Labor produces not only commodities it produces itself and the worker as a commodity- and does so in the proportion is which it produces commodities generally".[29]

अलगाव बस उत्पाद से ही नहीं बल्कि उत्पादन की प्रक्रिया से भी जुड़ा हुआ है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में, वस्तुओं का उत्पादन एक–सी और न खत्म होने वाली

गति है, जिससे मजदूर को 'a job well done' होने का मानसिक संतोष प्राप्त नहीं हो पाता है और न ही उसे अपना creative self सामने लाने का मौका मिल पाता है। इसका एक कारण यह भी है कि मजदूर का श्रम स्वाभाविक न हो करके आरोपित होता है। "Labor is external to the worker, i.e. it does not belong to his essential being; that in his work, therefore, he does not affirm himself but denies himself, does not feel content but unhappy, does not develop feely his physical and mental energy but mortifies his body and ruins his mind. The worker therefore only feels himself outside his work, and in his work feels outside himself".[30]

प्रत्येक व्यक्ति की यह इच्छा होती है कि वह इस प्रकार के क्रिया कलाप में संलग्न रहे जो कि उनके स्वयं के जीवन–यापन व मानसिक संतुष्टि के साथ–साथ अन्य व्यक्तियों से उनके संबंध को स्वस्थ रखें। मनुष्यों में यह विचार होता है जिसके अनुसार वे स्वयं को कर्त्ता (subject) और उत्पादित की गई वस्तु को (object) समझते हैं। इसके ठीक विपरीत, जानवर न तो स्वंय को subject और न ही अपने द्वारा उत्पादित की गई वस्तु को object समझते हैं क्योंकि जानवरों के self-sustaining actions भविष्य से प्रेरित हो कर नहीं होते हैं। जबकि मनुष्यों का 'Gattungswesen' (human nature) historically conditioned activities से स्वतंत्र नहीं होता। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मजदूर को अपने creative self को सामने लाने का मौका नहीं मिल पाता और वह एक सतत तरह से चलने वाली व्यवस्था का हिस्सा मात्र बन कर रह जाता है। आधुनिकीकरण के पश्चात् मशीनों पर काम करने वाला आदमी स्वयं ही मशीन बन कर रह गया है और इसी कारण उसका अपने अभ्यांतर से रिश्ता टूट गया है। मार्क्स के अनुसार, मनुष्य रचनात्मक प्राणी है। इन्हीं रचनाओं के रस में खोकर मनुष्य अपने अभ्यांतर को पहचानते हुए जीवन का आनन्द उठा सकता है किन्तु पूँजीवादी प्रणाली में बँध कर मनुष्य स्वयं को कहीं भूल बैठा है, अपनी आजीविका कमा कर वह अपनी बाह्य प्रकृति पर तो निरन्तर कार्य कर रहा है किन्तु उसकी आंतरिक

प्रकृति बिल्कुल नीरस बनी हुई है "In taking from man the object of his production, alienated labor takes from his species-life, his actual and objective existence as a species".[31]

मार्क्स के अनुसार, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में न केवल मनुष्य स्वंय से अलग होता है बल्कि दूसरे व्यक्तियों से भी अलग हो जाता है। अलगाव का यह प्रकार दिखाता है कि हमारे सामाजिक संबंध भी alienated हैं। मार्क्स का कहना है कि मनुष्य जन्म से ही सामाजिक है और इसी कारण उसकी 'conscious life activity, social framework' में बँधी है। यह अलगाव समाज के व्यक्तियों में प्रतियोगिता की भावना का ही परिणाम है। इस प्रतियेागिता में व्यक्ति हर एक दूसरे व्यक्ति को मात्र एक प्रतियोगी की तरह देखने लग जाता है। "In the relation of alienated labor every man sees the others according to the standard and the relation in which he finds himself as a worker".[32] व्यक्ति अपने subsistence के लिए इतना मजबूर हो जाता है कि वह अपने साथ–साथ समाज के अन्य व्यक्तियों को भी भूल जाता है। वह समाज के हर व्यक्ति को प्रतिद्वन्द्वी की तरह तथा अपने जीवन के लक्ष्य को बस अपनी आजीविका कमाने के रूप में देखता है। "Labor life-activity, productive live itself, appears to man merely as a means of satisfying a need – the need to maintain the physical existence. Yet the productive life is the life of species. It is life-endangering life. The whole character of a species its species character is contained in the character of its life-activity, and free, conscious activity is man's species character. Life itself appears only as a means to life."[33]

अलगाव की यह प्रक्रिया अंततः जड़ता की ओर ले जाती है, जहाँ जीवन केवल सर्वाइवल का प्रश्न बन कर रह जाता है। अलगाव के इन सभी रूपों से तभी बचा जा सकता है, जब ऐसे साम्यवादी समाज का निर्माण हो जिसमें सारे वर्ग–भेद समाप्त हो चुके हों। मार्क्स ऐसी क्रांति की बात करता है जब वर्ग–भेद मिट जायेंगे, और समस्त

उत्पादन संपूर्ण राष्ट्र के विशाल साहचर्य के हाथों में केन्द्रित हो जाएगा, तब सार्वजनिक शक्ति का राजनीतिक चरित्र ही समाप्त हो जाएगा। वर्गों और वर्ग–विरोधों से भरे हुए पुराने बुर्जवा समाज की जगह एक ऐसा साहचर्य अस्तित्व में आ जाएगा जिसमें प्रत्येक मनुष्य का स्वतंत्र विकास सब मनुष्यों के स्वतंत्र विकास की आवश्यक शर्त बन जाएगा।

अस्तित्ववाद और मुक्ति

अस्तित्ववाद के सन्दर्भ में मुक्ति को समझने के लिए उस पृष्ठभूमि से अवगत होना आवश्यक है, जिसके गर्भ से इसका जन्म हुआ है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में डेनिश विचारक कीर्केगार्द ने सर्वप्रथम अस्तित्ववाद शब्द का प्रयोग एक सुव्यवस्थित चिन्तन–प्रणाली के रूप में किया। हाँलाकि पाल रूबिचेक 'अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष' पुस्तक में 'पास्कल' को पहला चिन्तनक मानते है जिसके विचारों में अस्तित्ववादी चिन्तन–प्रणाली के बीज विद्यमान थे। 15वीं–16वीं शताब्दी से 18–19वीं शताब्दी के यूरोप का समय भीषण परिवर्तनों और संक्रांति का काल रहा है। इसे धर्म, विज्ञान और दर्शन की प्रविधियों के अंतर के माध्यम से अच्छे ढंग से समझा जा सकता है। धर्म के साथ स्थिति यह है कि यह सदैव एक प्रदत्त सत्य के साथ शुरू होता है और वह प्रदत्त सत्य 'ईश्वर' है। ईश्वरपरक विचारण के कारण ऐसे सत्य का अर्थ लगाने और उसे बोधगम्य बनाने के लिए सहायता मिलती है, जिसे पहले से स्वीकार करके चला जाता है। जबकि दर्शन सत्य से प्रारम्भ न करके परिकल्पना से प्रारम्भ करता है और सत्य तक पहुँचना उसका लक्ष्य होता है। यूरोप के पुनर्जागरण काल में तर्कबुद्धि की व्यापकता सर्वप्रतिष्ठित थी। बल्कि इसी तर्कबुद्धि के कारण धर्मयुग की मान्यताओं पर प्रहार कर उसके विरूद्ध एक भिन्न और नया बौद्धिक वातावरण निर्मित किया जा सका। यही कारण है कि तर्कबुद्धि युग के दार्शनिकों ने भी बाह्य, व्यवहारिक और वैज्ञानिक विचारण पर आधारित संकल्पनाओं के साथ ही अपने चिन्तन का प्रारम्भ

किया। ऐसा नहीं है कि विज्ञान के क्षेत्र में पूर्वमान्यताएँ नहीं होती। भौतिक क्षेत्र से प्रारम्भ करना ही विज्ञान की पूर्वमान्यता है। परंतु इस पूर्व मान्यता से प्रारंभ करके विज्ञान अपनी प्रविधि के माध्यम से सिद्ध करता है कि तर्कबुद्धि से परे जो कुछ भी है वैज्ञानिक संकल्पना का हिस्सा नहीं है। यही कारण है कि उस युग के दार्शनिक प्रस्थानों पर भी इसी निरपेक्ष तर्कबुद्धि का पूरा प्रभाव रहा है। अस्तित्ववाद का जन्म इसी 'निरपेक्ष तर्कबुद्धिवाद' की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। पॉल रूबिचेक ने इसी को लक्ष्य करके लिखा है कि, ''बुद्धिवाद के युग के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में ही अस्तित्ववाद के रूपों में जन्म लेने वाले दर्शन की आवश्यकता को, कुछ हद तक, समझा जा सकता है; क्योंकि उस बुद्धिवादी युग के दार्शनिकों ने, जो अपने आपको बुद्धिवादी और विवेकवान मानने पर गर्व करते थे, एक विशेष रूप में अपनी बात को कुछ बढ़ा चढ़ाकर व्यक्त किया। बुद्धि को मनुष्य की ऐसी सर्वोच्च शक्ति ही माना गया जो सब समस्याओं का समाधान करने में समर्थ थी जो अन्त में सम्पूर्ण सर्व संग्रहक ज्ञान प्राप्त करा देती है। परन्तु उसे ऐसा भी माना गया मानों वह पूर्णतः निर्दोष और विध्यात्मक हो और इसलिए सृष्टि का सर्वोत्तम फल हो। दूसरे शब्दों में तर्कबुद्धि या विवेक को ही निरपेक्ष माना गया।

यहाँ 'निरपेक्ष' शब्द के सन्दर्भ के दो अर्थ होते हैं। पहले बुद्धि ही वास्तविकता का अंतिम छोर है, वह अव्युत्पन्न और अन्य किसी भी प्रकार से नियत नहीं है और दूसरे बुद्धि की सामर्थ्य असीम है। इस प्रकार से, यद्यपि बुद्धि में विश्वास ही अबुद्धि हो जाता है, क्योंकि सारे अनुभवों से यह पता चलता है कि बुद्धि मानव स्वभाव का एक अंश है, वह मानव स्वभाव से प्रभावित है, बुद्धि की शक्ति सीमित है और इसीलिए बुद्धि को अंतिम नहीं माना जा सकता, न माना जाना चाहिए।''[34]

रूबिचेक ने प्राकृतिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के उदाहरण के माध्यम से निरपेक्ष बुद्धिवाद को नियतत्त्ववाद के रूप में स्वीकार किए जाने की सीमाओं को स्पष्ट

किया है। रूबिचेक का यह पूरा विश्लेषण अस्तित्ववादी दर्शन की मूल प्रतिज्ञा आत्मपरकता, अनुभूति–प्रमाण और वरण की स्वतंत्रता को सैद्धान्तिक वैधता देने के लिए किया गया प्रयास है। जिसकी प्रतिक्रिया में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ उस तर्कबुद्धिवाद की सीमाओं का विश्लेषण सहज ही अस्तित्ववाद का लक्ष्य बन जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। संक्षेप में प्राकृतिक विज्ञान की तीन शाखाओं की सीमाओं का विश्लेषण निम्नवत है।–

1) पदार्थ विज्ञान की 'निरपेक्ष वास्तविकता' से कुछ दत्त परिणाम निष्कर्ष रूप में निकाले जाते हैं। जैसे–क्वाटंम सिद्धांत, जिस सिद्धान्त पर आधारित है उसके अनुसार परमाणु से विकरित की जा सकने योग्य ऊर्जा को उसके न्यूनतम क्वाण्टम संख्या के समानुपाती होना चाहिए। रूबिचेक का कहना है कि यह तथ्य तर्कबुद्धि से परे है कि ऐसी सीमा होनी ही क्यों चाहिए। यानी पदार्थ विज्ञान की एक सीमा है कि वास्तविकता का पता तो लगाया जा सकता है पर उसे समझा नहीं जा सकता। इसी को लक्ष्य करके क्वाण्टम वैज्ञानिक हाइजेनबर्ग ने कहा था कि ऐसा सब ज्ञान 'एक अमाप गहराई के ऊपर पुल की तरह झूल रहा है।'

2) जीव विज्ञान ने तो अपने विकास के साथ–साथ ही तर्कबुद्धि के आधार पर निरूपित जातियों और प्रजातियों की उत्पत्ति संबंधी अपनी पुरानी धारणा का परिष्कार किया है। लैमार्क के विकासवाद को डार्विन ने अस्वीकार कर दिया था। नवीन वातावरण में प्राणी अपने को उसके अनुकूल बनाता है और यही अनुकूलन गुण बनकर उसमें स्थित हो जाता है और इससे नई प्रजातियों का जन्म होता है–लैमार्क की यह संकल्पना बोधगम्य थी। परन्तु डार्विन को ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिल सका कि प्राप्त विशेषताएँ वास्तविक रूप से वंशानुगत हो जाती हैं। विकासवाद की बुद्धिवादी व्याख्या के सम्मुख यह एक प्रश्नचिह्न था। लेकिन उत्परिवर्तन के सिद्धांत ने सम्पूर्ण विकास की प्रक्रिया को ही तर्क–बुद्धिवाद से परे ढ़केल दिया और बताया कि जीवों में अव्याख्येय रूप से

आकस्मिक परिवर्तन होता है। इससे जो कुछ नवीन विशेषताएं उत्पन्न होती है वे अविरत जीवन के लिए लाभदायक होती हैं आगे जीवित रहने के लिए सांघातिक संघर्ष होता है। जिनमें वे विशेषताएँ होती हैं वे जीने के योग्य होते हैं और अपनी विशेषताएँ उत्तराधिकार में स्थानान्तरित करते रहते हैं। यह धारणा तर्क–बुद्धि की परिधि से बाहर की है कि विवेकशून्य शक्तियों और आकस्मिक गुणों से ही क्यों उत्परिवर्तन होता है और प्राकृतिक वरण संभव होता है।

3) तीसरा उदाहरण मनोविज्ञान का है। अवचेतन की खोज ने तर्कबुद्धि की सीमाओं को सामने लाकर रख दिया है कि मानवीय क्रियाओं का निर्धारण न केवल उन उद्देश्यों और आवेगों से होता है, जिनसे हम अवगत होते है; अपितु उन अन्तः प्रेरणाओं, मूल–प्रवृत्तियों और संस्कारों से अधिक होता है जो हमारे अवचेतन में छिपी रहती हैं। चेतना तर्कबुद्धि का आधार है। परन्तु अवचेतन की सत्ता स्वीकार कर लेने से यह भी स्वीकार करना ही पड़ता है कि तर्कबुद्धि की सीमाएँ हैं और वह 'निरपेक्ष' नहीं हो सकती।

अस्तित्ववाद को दर्शन की एक व्यवस्थित प्रणाली के रूप में स्थापित करने के लिए इस वृहद विश्लेषण की आवश्यकता बौद्धिकों को हुई। क्योंकि बहुत से लोग अस्तित्ववाद को दर्शन की एक व्यवस्थित प्रणाली मानने से इनकार करते रहे हैं। यही कारण है जिस युग की बौद्धिकता की प्रतिक्रिया में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ, उस युग की मूल बौद्धिक प्रतिज्ञा की सीमाओं को स्पष्ट किया जाये। तर्कबुद्धिवाद की व्यापकता और गहनता जीवन के हर क्षेत्र में इस तरह हो गई थी कि मनुष्य भी धीरे–धीरे यंत्रवत् बनता जाता रहा। सार्त्र ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'Existentialism Is a Humanism' में इस बात का उल्लेख किया है, ''यही अकेला ऐसा सिद्धांत है जो मनुष्य को वस्तु नहीं बना देता। सभी प्रकार के भौतिकवाद हमें अपने आप समेत मनुष्य को

वस्तु मानने की ओर ले जाते है।'' [35] इसीलिये अस्तित्वाद की बुनियादी शर्त आत्मपरकता और अनुभूति की प्रमाणिकता के रूप में सामने आयी।

तर्कबुद्धिवाद की सैद्धान्तिक सीमाओं का प्राकृतिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के माध्यम से परिचय मिल जाने के बाद कीर्कगार्द के दार्शनिक प्रस्थान को समझ पाना आसान हो जाता है–''चूँकि हम तर्कबुद्धि पर भरोसा नहीं रख सकते, अतः हम किसी को अपने को भी विश्वास करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते, किन्तु एक काम तो हम कर सकते हैं और हमें करना भी चाहिए कि हम एक जोखिम उठाएँ अर्थात् हम तर्कनापरक विचारण के, वैज्ञानिक तर्कना के समस्त परिणामों का परित्याग करें, और उस आभ्यान्तर वाणी के प्रति हम अपने को अभ्यर्पित कर दें जो हमें बताती है कि एक भिन्न सत्ता है, भिन्न प्रकार का, अनुभवातीत तर्कबुद्धि का क्षेत्र है। अगर हम ऐसा करते है तो कीर्केगार्द का विश्वास है हम ईश्वर की खुली बाहों में चले जायेंगे।''[336]

कीर्केगार्द ने अस्तित्व की उपलब्धि के लिए 'परम विरोधाभास' की अवस्था में 'अज्ञात में छलांग' को उपाय के रूप में प्रस्तुत किया है। उसका मानना था कि मनुष्य और ईश्वर के बीच में गहरी खाई है और तर्कबुद्धि ने ईश्वर को उसके युग का सबसे निर्धन प्राणी बना दिया है, जिसे मृत्युदण्ड दिया जा चुका है। ऐसी असंग स्थिति में व्यक्ति जब अपनी 'आस्था' और 'नैतिक आत्मा' की सारी शक्ति को समेट कर इस अज्ञात की खाई में कूदता है जो मनुष्य और ईश्वर के बीच बन गई है, उसी छलांग में मनुष्य अपने अस्तित्व को पूरी तरह से प्राप्त करता है और ईश्वर की गोद में जा पहुँचता है। कीर्केगार्द का स्पष्ट मानना था कि जो लोग इस 'परम विरोधाभास' की अवस्था का अपने अनुभव के रूप में वर्णन करते हैं और देखा करते है कि उन्हें कुछ प्राप्त नहीं हुआ, वे पलायनवादी है और छलांग लगाने से डरते हैं।

ईसाई अस्तित्वाद और निरीश्वर अस्तित्ववाद दोंनो में ही अस्तित्व को सत्व से पहले माना गया है। परन्तु सार्त्र ने जो निरीश्वर अस्तित्ववाद का सबसे बड़ा प्रवक्ता है

अस्तित्व को बेहद अलग ढंग से परिभाषित किया है। सत्व से पहले अस्तित्व है, इस कथन का सार्त्र के लिए अर्थ है कि जैसे ही हमने ईश्वर की संकल्पना से अपने को अलग कर लिया, वैसे ही हम अपने लिए उसके द्वारा निर्धारित सत्व से भी परे हो गए। यानी जैसे एक चाकू बनाने वाले को निर्माण के पहले उसके निमित्त और उपादान दोनों तत्त्वों की जानकारी रहती है, जो मिलकर चाकू का सत्व है (धारदार धातु और काटने में उपयोगिता)। चाकू का सत्व उसके अस्तित्व से पूर्व मौजूद रहता है। परन्तु ईश्वर के न रहने पर मनुष्य के प्रयोजनमूलक निर्माण की अवधारण ही समाप्त हो जाती है। इसीलिए सार्त्र कहता है कि मानव किसी पूर्व निश्चित लक्ष्य को पाने के लिए बनी–बनायी परिपाटी में दे भर दिया गया हुआ नहीं है। बल्कि वह अपने अस्तित्वमान होने के कारण वरण के लिए स्वतंत्र है, बल्कि एक हद तक अभिशप्त है। सार्त्र स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि, ''अस्तित्व सत्व से पूर्व आता है, इसका हम क्या अर्थ लेते हैं? हम समझते हैं कि सबसे पहले मनुष्य का अस्तित्व है, फिर वह स्वयं अपने से संघर्ष करता है और विश्व में अपनी जगह तलाशता है, तत्पश्चात् वह अपने को परिभाषित करता है। अस्तित्ववादी के अनुसार, यदि मनुष्य परिभाष्य नहीं है तो इसका कारण यह है कि आरंभ में वह कुछ भी नहीं था। बाद में भी वह कुछ नहीं होगा और वह वही बनेगा जैसा वह अपने आपको बनाना चाहेगा। इसलिए मानव प्रकृति जैसी कोई चीज नहीं क्योंकि इसकी धारणा बनाने के लिए कोई ईश्वर नहीं है।''[37]

अस्तित्ववादियों की मूल प्रतिज्ञाओं और स्थापनाओं पर भिन्न–भिन्न मतों की ओर से प्रहार हुए हैं और उन पर आरोप लगाए गए। मार्क्सवादियों ने इस विचार प्रणाली पर आरोप लगाया कि यह कोई समाधान नहीं देती और अनिश्चितता के भंवर में ला छोड़ती है। ऐसे में यदि कोई समाधान नहीं रहेगा तो मनुष्य हर कर्म को प्रभावहीन मानेगा और अन्ततः वह चिन्तन प्रधान दर्शन तक आ पहुँचेगा और कोरा चिन्तन विलासिता है इसलिए यह एक और बुर्जुआ दर्शन ही होगा। ईसाई चिन्तकों ने अस्तित्वाद पर आरोप लगाया है कि यह जीवन के हीन और कुत्सित पक्ष को चित्रित

करता है। दोनों आरोपों का मुख्य कारण यह है कि दोनों यह स्वीकार करते हैं कि अस्तित्वादी मानव जाति की एकता पर विचार न करके मानव को अलगाव में देखते हैं। सार्त्र का कहना है कि, ''कम्यूनिस्ट अस्तित्ववादियों की इस चिन्त्य स्थिति कारण इस सिद्धान्त का आत्मपरक और देकार्तवादी 'मैं सोचता हूँ' पर आधारित होना मानते हैं और इस प्रकार 'यह वह क्षण हो जाता है' जिसमें अकेला मनुष्य सिर्फ खुद को हासिल करता है। यह एक ऐसी स्थिति है जहां से एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य जिसका अस्तित्व उसके स्व से अलग है, के साथ एकजुटता पा सकना असंभव है। 'मैं सोचता हूँ' की भावना के द्वारा अहम् को उन तक नहीं पहुँचाया जा सकता।''[38]

विरोधियों द्वारा अस्त्विवाद को आत्मपरक दर्शन सिद्ध करके खारिज कर देने के जवाब में सार्त्र दृढ़ता से आत्मपरकता को सिद्धान्त के रूप में स्थापित करते हैं– ''अस्तित्ववाद शब्द का अर्थ एक ऐसा सिद्धांत है जो मानव जीवन को संभव बनाता है और जो मानता है कि प्रत्येक सत्य और कर्म का संबंध मानव परिवेश और उसकी उसकी आत्मपरकता में निहित होता है।''[39] और इस आत्मपरकता से तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य का अस्तित्व सत्व से पहले है तो वह (अस्तित्व) वहीं तक उपलब्ध होता हैं, जहाँ तक मनुष्य उसे अपने संकल्पों से प्राप्त करता है। यानी मनुष्य किसी नियतिवाद या नियतत्त्ववाद के रूप में अपना जीवन नहीं जीता। इसीलिए प्रकृतिवादी उपन्यासों के पात्रों से अलग अस्तित्ववादी उपन्यासों के पात्रों का चित्रण होता है। जहाँ प्रकृतिवादी उपन्यासों में किसी पतित या उपेक्षित चरित्र का कारण बाह्य परिस्थितयों में दिखाया जाता है, वहीं अस्तित्वदादी चरित्र अपनी परिणति के लिए स्वयं जिम्मेदार होता है। इसी प्रकार यह आत्मपरकता निरन्तर कर्म की ओर प्रेषित करती है। साथ ही एक वृहदतर मानवीय परिवेश के साथ हर मनुष्य के हर वरण को जोड़ देती है। इसे सार्त्र ने तीन शब्दों के माध्यम से समझाया है 'मनोव्यथा' (Anguish) 'व्यवहार स्वच्छंदता' (abandonment**)** और 'नैराश्य' **(**despair**)**। अस्तित्ववादी स्पष्टतः स्वीकार करता है कि मनुष्य मनोव्यथा से पीड़ित है। इस मनोव्यथा को आत्मपरकता के सन्दर्भ में देखना

चाहिये। आत्मपरक ढ़ंग से मानव अपने अस्तित्व की जैसी भी उपलब्धि करता है, उसका जिम्मेदार वह स्वयं है और इस प्रक्रिया में वरण की अनन्त स्वतंत्रता उसे प्राप्त है क्योंकि जैसे ही ईश्वर की अवधारणा समाप्त हो जाती है वह कुछ भी करने को स्वतंत्र है। इस कुछ भी करने की स्वतंत्रता को अगर और विश्लेषित किया जाए तो वह किसी भी दिए गए नियम या समाधान के आधार पर निर्णय लेने के लिए बाध्य नहीं है, बल्कि कई बार तो वह ऐसी परिस्थियों में फंस जाता कि दिये हुये नीतिशास्त्रीय उपकरण उसके किसी काम नहीं आते। ठीक इसी जगह मनोव्यथा और व्यवहार स्वच्छंदता को समझा जा सकता है। इसे अगर सार्त्र द्वारा दिए गए एक उदाहरण के माध्यम से ही समझें तो सरलता होगी। एक बार सार्त्र का कोई शिष्य उनके पास आया जिसके पिता ने बुरा व्यवहार कर उसकी माँ को छोड़ दिया था और उसका बड़ा भाई नाजियों के विरूद्ध युद्ध में मारा गया था। पति द्वारा परित्यक्त और बड़े बेटे की मृत्यु से वह महिला भीतर तक सहमी हुयी थी। अब वह विद्यार्थी ही मात्र अपनी माँ सहारा था। पर विद्यार्थी नाजियों के खिलाफ युद्ध में शामिल होने के लिए इंग्लैण्ड जाना चाहता था। ऐसी स्थिति में उसे अपनी माँ को अकेला छोड़ना पड़ता और शायद इस विक्षिप्त अवस्था में अपने एक मात्र आश्रय द्वारा ऐसा कठिन निर्णय लिए जाने पर वह मर भी सकती थी। उस विद्यार्थी के सम्मुख चुनाव का प्रश्न था। इस संबंध में सम्मति के लिए वह सार्त्र के पास आया था। पर सार्त्र ने उत्तर दिया कि इस सम्बन्ध में वे उसकी कोई मदद नहीं कर सकते। वह निर्णय लेने के लिए, वरण के लिए स्वतंत्र है। वह स्वतंत्र है क्योंकि कोई भी धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र उसे इस चुनाव के सम्बन्ध में मदद नहीं कर सकते। सार्त्र ने दुविधा में प्रदत्त की निष्प्रयोजनशीलता को इन शब्द में व्यक्त किया है'', क्या ईसाई मत उसकी सहायता कर सकता था? ईसाई मत कहता हैः सौहार्दपूर्ण व्यवहार करो, अपने पड़ोसी से प्यार करो, दूसरे के हित में त्याग करो, उस मार्ग को अपनाओ जो अधिक कठिन हो, आदि–आदि। परन्तु प्रश्न उठता है कि कठिन मार्ग कौन–सा है? भ्रातृत्व प्रेम किसके

लिए अधिक हो–देश के लिए या माता के लिए? कौन–सा लक्ष्य अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है– सम्पूर्ण समुदाय में और उसके लिए उड़ने का सामान्य लक्ष्य या व्यक्ति विशेष को जीवित रखने में योगदान देने का स्पष्ट लक्ष्य? किसको प्राथमिकता दी जाए, इसका उत्तर कौन दे सकता है? कांटवादी नीतिशास्त्र कहता है–दूसरों को साधन नहीं, अपितु सदैव साध्य मानो। बहुत अच्छा, अगर मैं अपनी माँ के पास रह जाऊँ तो ऐसी स्थिति में मां को साध्य मान रहा होऊंगा, न कि साधन। किंतु दूसरी ओर, मुझे भय है कि मैं उन लोगों को जो मेरी ओर से लड़ रहे हैं, साधन मान रहा होऊंगा तथा इसका विलोम भी सत्य है। युद्धरत सैनिकों की मदद के लिए जाता हूं तो ऐसी स्थिति में उन सैनिकों को साध्य मान रहा होउंगा और माता को साधन के रूप में स्वीकार करूँगा।''[40]

इस उद्धरण से मनोव्यथा और व्यवहार स्वच्छंदता को समझा जा सकता है। चूँकि अस्तित्व सत्व से पहले है, इसलिए मनुष्य के पास वरण के लिए कोई भी संकेत स्वतः उपलब्ध नहीं है। लेकिन उसके वरण में यह स्थिति निहित है कि यह वरण सबके लिए भी है। यानी अपने आपको बनाने की प्रक्रिया में मनुष्य, मनुष्य का निर्माण करता है। ऐसी स्थिति में ''जब एक व्यक्ति यह अनुभव करते हुए कि वह केवल उसका चुनाव नहीं कर रहा है जो वह होगा, अपितु इसके साथ ही एक विधायक रूप में सम्पूर्ण मानव जाति के लिए निर्णय ले रहा है तो अपने को किसी के प्रति प्रतिबद्ध करता है। ऐसे क्षणों में वह मनुष्य गहन और पूर्ण दायित्य से भाग नहीं सकता।''[41]

ये दायित्वबोध ही उसकी मनोव्यथा का कारण है, क्योंकि ऐसा कोई संकेत उपब्ध नहीं है जिसके आधार पर लिए गए निर्णय को समूची मानवता के लिए अनुकरणीय व्यवहार के रूप में, वह उसका चयन करें। सार्त्र ने कीर्कगार्द द्वारा निरूपित 'अब्राहम की मनोव्यथा' को इस नये संदर्भ में व्याख्यायित किया। और इसी समय उसके पास व्यवहार स्वच्छन्दता की असीम संभवना होती है। जैसे ही वह किसी विकल्प का स्वतंत्र

वरण करता है उसकी मनोव्यथा मिट जाती है। इस प्रकार यह मनोव्यथा कर्मक्षेत्र से पलायन न होकर, कर्म की शर्त बन जाती है और व्यवहार स्वच्छंदता किसी भी तरह के नियतिवाद को तोड़कर घोषणा करती है– 'मनुष्य मुक्त है, मनुष्य मुक्ति है।' दूसरी ओर, यदि ईश्वर नहीं है तो हमारे व्यवहार को वैध ठहराने के लिए कोई मूल्य या आदेश उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार, मूल्यों के ज्योतिर्मय क्षेत्र में आगे या पीछे कहीं पर भी उन्हें न्यायसंगत ठहराने को कोई साधन या बहाना नहीं मिलता। बिना किसी बहाने के हम निपट अकेले रह जाते हैं। जब मैं कहता हूँ कि मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है, तो मेरे कहने का यही अभिप्रत्य है। अभिशप्त इसलिए कि उसने अपने को जन्म नहीं दिया, फिर भी मुक्त है और जिस लक्षण से वह दुनिया में आया है तब से वह जो करता है उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है।''[42]

अतं में बचता है शब्द 'नैराश्य' जिसके लिए सार्त्र ने लिखा है कि हम अपने आप को उस विश्वास तक ही सीमित कर दें जो हमारी संकल्पनाओं और समस्त संभावनाओं में निहित है, जो हमारे कार्य को संभव बनाता है। यही वह स्थान है, जहाँ वह अपने विरोधी मतों के सैद्धान्तिक विरोध के साथ व्यवहारिक अड़चन को भी सामने रखता है। खासकर मार्क्सवाद के साथ। सार्त्र मार्क्सवादियों द्वारा सुझाये गए समाधान से सम्मति नहीं बना पाते कि मुत्यु द्वारा व्यक्ति के कार्य सीमित कर दिये जाने पर भी दूसरों की मदद उस कार्य को आगे बढ़ाती रहेगी। इस सन्दर्भ में सार्त्र ने दो कठिनाईयाँ बतायी हैं। पहली कि किसी सामूहिक उत्तरदायित्व की संस्था के विचार पर वे तभी भरोसा कर सकते हैं, जब उससे जुड़े बाकी सारे सदस्य उस विचार विशेष के प्रति उसी ढ़ग से प्रतिबद्ध हो, जिस तरह से स्वयं सार्त्र। और दूसरी, चूँकि मनुष्य स्वतंत्र निर्णय ले सकता है तो ये क्या जरूरी है कि उनकी मृत्यु के बाद बाकी सारे लोग नाजीवाद की तरफ न झुक चलें और शेष बचे अपनी कायरता से इस निर्णय को स्वीकार न कर ले। भले ही ये प्रतिगामी कदम होगा, पर तब यही उस समय का सच होगा।

ठीक है कि सार्त्र ने अस्तित्ववाद पर आत्मपरकात के लगाये जाने वाले आरोपों का जवाब दिया और व्यक्ति के निर्णय या स्वातंत्र्य को दूसरे व्यक्ति की नजर में परिभाषित कर 'पारस्परिक आत्मपरकता' की अवधारणा का विकास किया। परन्तु किसी दत्त या प्राप्त प्रत्यय को न स्वीकार करने के कारण अस्तित्ववाद किसी भी प्रकार का समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ है। यही कारण है कि अस्तित्ववादी घोषणा करते है कि 'मनुष्य मुक्त है, मनुष्य मुक्ति है।' सार्त्र ने इसी कारण से पोंज की उक्ति का सहारा लिया कि 'मनुष्य ही मनुष्य का भविष्य है' और लिखा कि ''यह पूर्ण सत्य है। लेकिन यदि कोई इसे इस अर्थ में लेता है कि भविष्य स्वर्ग में है और ईश्वर ही जानता है कि वह कैसा है तो यह बात मिथ्या होगी क्योंकि तब वह भविष्य ही नहीं रहेगा। लेकिन इसका अर्थ यह है कि मनुष्य जिस रूप में भी हमें प्रतीत होता है, उसके लिए एक भविष्य है जिसे साकार करना है, एक अक्षत भविष्य जो उसकी प्रतीक्षा करता है–तब यह कथन सत्य है। परन्तु वर्तमान में मनुष्य परित्यक्त सा है।''[43]

संदर्भ सूची

[1] Arthur Koestler, The Yogi And The Commissar, Page No. 9, Jonathan Cape London, 1945, FIRST Published.

[2] वही, पृ॰ सं॰ 10।

[3] वही, पृ॰ सं॰ 11।

[4] देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पृ॰सं॰ 47, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2007, द्वितीय संस्करण।

[5] Rajeev Bhargava & Ashok Acharya, Palitical Theory: An Introduction, Page No. 213, Pearson Delhi, 2017, Second Inpression.

[6] ईशावास्योपनिषद, श्लोक संख्या 1, गीताप्रेस गोरखपुर, सं॰ 1997, तीसरा संरकरण।

[7] माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह (भाष्यकार–डा॰ उमाशंकर 'ऋषि'), पृ॰सं॰12, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, 2006, पुनर्मुद्रित संस्करण।

[8] वही

[9] के॰ दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ॰सं॰ 105, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।

[10] वही, पृ॰ सं॰ 106–107।

[11] माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह (भाष्यकार–डा॰ उमाशंकर 'ऋषि'), पृ॰सं॰4, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, 2006, पुनर्मुद्रित संरकरण।

[12] वही, पृ॰ सं॰ 8।

[13] देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पृ॰सं॰ 596, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2007, द्वितीय संस्करण।

[14] माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह (भाष्यकार–डा॰ उमाशंकर 'ऋषि'), पृ॰सं॰5, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी, 2006, पुनर्मुद्रित संरकरण।

[15] देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पृ॰सं॰ 598, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2007, द्वितीय संस्करण।

[16] के॰ दामोदर, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ॰सं॰ 138,पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।

[17] वही, पृ॰ सं॰ 142।

[18] वही, पृ॰ सं॰ 143।

[19] वही।

[20] देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पृ॰सं॰ 577 ए पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2007, द्वितीय संस्करण।

[21] के॰ दामोदर, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ॰सं॰ 177,पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।

[22] वही, पृ॰ सं॰ 180।

[23] वही, पृ॰ सं॰ 181–182।

[24] देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पृ॰सं॰ 588, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2007, द्वितीय संस्करण।

[25] के॰ दामोदर, भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ॰सं॰ 187,पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।

[26] वही, पृ॰सं॰ 189।

[27] वही, पृ॰सं॰ 187।

[28] वही, पृ॰सं॰ 260।

[29] Karl Marx, Ecomomic And Philosophic Mauscripts of 1844 Ctranslated by- Martin Milliganl, Page no. 29, prometheus books New york, 1988.

[30] वही, पृ॰सं॰ 74।

[31] Law Rence H. Simon (Ed.), Karl Marx Selected Writings, Page No 64, Hackett Publishing Company, 1994.

[32] वही, पृ॰सं॰ 65।

[33] Karl Marx, Ecomomic And Philosophic Mauscripts of 1844 Ctranslated by- Martin Milliganl, Page no. 29, prometheus books New york, 1988.

[34] पॉल रूबिचेक, अस्तित्ववादः पक्ष और विपक्ष (अनु॰—डॉ प्रभाकर माचवे), पृ॰सं॰1—2, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 1973।

[35] ज्यां पॉल सार्त्र, अस्तित्ववाद और मानववाद (अनु॰ जवरी मल्ल पारख), पृ॰सं॰ 49, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, 1997, पहला संस्करण।

[36] पॉल रूबिचेक, अस्तित्ववादः पक्ष और विपक्ष (अनु॰—डॉ प्रभाकर माचवे), पृ॰सं॰1—2, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 1973।

[37] ज्यां पॉल सार्त्र, अस्तित्ववाद और मानववाद (अनु॰ जवरी मल्ल पारख), पृ॰सं॰ 49, प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, 1997, पहला संस्करण।

[38] वही, पृ॰सं॰ 31।

[39] वही, पृ॰सं॰ 32।

[40] वही, पृ॰सं॰ 41—42।

[41] वही, पृ॰सं॰ 37।

[42] वही, पृ॰सं॰ 40।

[43] वही।

अध्याय–दो

हिन्दी साहित्य में मुक्ति की अवधारणा और अज्ञेय

2.1 प्रस्तावना

अज्ञेय के चिन्तन और सृजन दोनों पक्षों पर प्राचीन भारतीय वाङ्गमय का बहुत गहरा प्रभाव है। आरण्यक–ग्रन्थों के उदाहरण से लेकर बौद्ध–मत की चिन्ताओं और उपनिषदों के परिभाषिक पदों तथा प्रतीकों का अज्ञेय ने अपने विश्लेषण–कर्म के साथ–साथ कई जगहों पर सर्जनात्मक प्रयोग भी किया है। संवत्सर में कालबोध को और उसके सृजनात्मक आयाम को स्पष्ट करने के लिए वे इलियट और रवीन्द्र की कविताओं से लेकर आरण्यक–ग्रन्थों और बौद्ध–चिन्तन आदि को अपनी बात स्पष्ट करने के क्रम में संदर्भ के अनुरूप विश्लेषित करते हैं। साथ ही अपनी कविताओं में द्वासुर्पणा के औपनिषदिक प्रतीक की कथा का नवीन सर्जनात्मक प्रयोग भी करते हैं। 'जीवन्मुक्त' और 'विदेहमुक्त' ये शब्द विशिष्ट औपनिषदिक पदावली है। इस जीवन्मुक्त शब्द को अज्ञेय अपनी कविता में, अपनी समग्र जीवनदृष्टि के अनुरूप नए अर्थ में बरतते हैं–

''साँस का पुतला हूँ मैं:
जरा से बँधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ:
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवनमुक्त मैं किया गया हूँ।''[1]

क्षण की अस्तित्वादी अनुभूति के सन्दर्भ में उन्हें महाभारत की एक कथा याद आती है। वे अवलोकितेश्वर के कथा–प्रसंग से अपने लिए मुक्ति की वास्तविक पहचान को उपलब्ध करते हैं– 'उत्सर्ग हो जाना ही एक मात्र वरण है।' उनके 'आंगन के पार द्वार संग्रह की आध्यात्मिक ढंग की कविताएँ उन्हें कबीर की रहस्यात्मक उक्तियों के करीब ले जाती हैं। वैसे भी हिन्दी साहित्य पर प्राचीन भारतीय वाङ्गमय, भारतीय मनीषा और भक्ति कविता का प्रभाव विपुल और व्यापक स्तर पर रहा है।

2.2. हिन्दी साहित्य की पीठिका में मुक्ति की अवधारणा

भारतीय वाङ्मय का प्रारम्भ वेदों से होता है। वेदों में मुक्ति अवधारणात्मक प्रश्न के रूप में नहीं है। मूल वेद ऋगवेद में 10 मण्डल हैं, जिसमें दसवाँ अन्यान्य विषयों को स्थान देने के लिए पीछे से जोड़ा गया है। फिर यजुर्वेद है, जिसके अंत में ईशावास्योपनिषद् है। यहीं पर कुछ चिन्तन का तत्त्व मिलता है। शेष दो वेदों साम और अर्थव में इन्हीं दोनों की ऋचाओं का उपयोग किया गया है।

शुरुआती वेद प्रकृति से घिरे भावुक ऋषि के उद्गीत हैं। वैदिक मनुष्य या ऋषि के लिए खुली प्रकृति में जीवन का उत्सव ही मुक्ति है–

''एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेवस्नाती दृशये नो अस्यात्।

अप द्वेषो बाधमाना तर्मोस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्।।''[2]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एन्थ्रोपोलॉजी के विश्लेषण के आधार पर बताया है कि विज्ञान की यह शाखा नवीन खोजों के आधार पर अब यह मानने लगी है कि भय की स्थिति कभी मुक्ति की अवस्था की ओर नहीं ले जा सकती। भय के दबाव से अगर व्यक्ति अपनी मूल वृत्तियों की ओर जायेगा तो वे अन्ततः कुण्ठा की ओर ले जायेंगी। संकोच, पलायन और बेसुधगी की ओर ले जायेंगी। वैदिक संवाद चाहे पुरुरवा–उर्वशी

का हो या यम–यमी का। कहीं कुण्ठा का स्वर, संकोच और पलायन की खोल में सिमटता हुआ नहीं दिखता। बल्कि यमी तो यम से कहती है–

''यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने ये नौ सहशेय्याय।
जाये व पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्गृहेवस्थ्ये व चक्रा।।''[3]

फिर मुक्ति के लिहाज से बात ये है कि काल की माप के अनुसार 1500–2000 वर्ष हम आगे बढ़ आये हैं इस दौरान मुक्ति के लिए या यूँ कहें अपने आपको और स्वतंत्र या सक्षम करने के लिए सारी मानवता प्रयोग करती रही है। कुछ प्रयोग सोच–समझकर संकल्पना के साथ किए गए हैं, तो कुछ अनायास समय और आवश्यकता के अनुरूप सिद्ध हुए हैं। पर क्या आज 21वीं शताब्दी में प्रेम और प्रवृत्ति–वृत्ति की निजी भावनाओं की यम–यमी जैसी सहज, अकुण्ठ और ईमानदार अभिव्यक्ति संभव है।

ये अकुण्ठ सरलता उस युग के लिए सहज उपलब्ध थी जो वैदिक ऋचाओं के सौंदर्य–दर्शन और प्रकृति वर्णन में दीख पड़ती है। इस लिहाज से हम आज कुछ गुलाम ही हुये हैं। वैदिक युग की मुक्ति समाज के कॉम्पलेक्स न होने में थी। सौन्दर्य–दर्शन और सहज अनुभावन में ही उस युग की मनीषा की मुक्ति है।

जीवन के रस में सार्थकता देखने के साथ–साथ वैदिक वाङ्गमय ब्रह्माण्ड और सृष्टि की रचना के संदर्भ में, काल की अवधारणा आदि के संदर्भ में विचार करने लगा था। परंतु दार्शनिक प्रश्नों के व्यवस्थित युग की शुरुआत हुई उपनिषदों से।

यथार्थ के पहचान की बहसें वस्तुनिष्ठा की खोज की ओर बढ़ती है। बड़ा बोधगम्य उदाहरण दिया जाता है कि यदि एक कारख़ाने में हड़ताल हो तो, ये एक घटना मात्र है। पर इस घटना के सच अलग–अलग व्यक्तियों के लिए अलग–अलग हैं। कारखाने के मालिक के लिए ये पूंजी और मुनाफे का नुकसान है और मजदूरों के

लिए अपना जीवन चला सकने के न्यूनतम साधन प्राप्त करने का संघर्ष, तो वहीं प्रशासन–व्यवस्था के लिए, पुलिस के लिए बलवा और तनाव से निपटने की तैयारी की स्थिति। व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से एक घटना के तीन सच। फिर इनमें से यथार्थ क्या है। यथार्थ वस्तुनिष्ठ ही हो सकता है। वस्तुनिष्ठा सार्वभौमिक सत्य या सर्वभौमिक हित में ही निहित होती है। सार्वभौमिक सत्य यह है कि मनुष्य अपूर्ण है और इन अपूर्णताओं की कारा से निकलना ही सार्वभौमिक हित या स्वतंत्रता है। मार्क्स ने इन अपूर्णताओं के गर्भ में उत्पादन और वितरण के साधनों के अन्यायपूर्ण स्वामित्व को देखा और विश्लेषित किया। यदि इस संदर्भ में न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था अपना ली जाए, तो अन्य सारी सामाजिक अपूर्णताओं–चोरी, भ्रष्टाचार, कलह आदि को सुलझाया जा सकता है। साथ ही व्यक्तिगत अपूर्णताएँ, जो कि मार्क्स के महत्त्वपूर्ण विश्लेषण में alienation की समस्या है, को भी मिटाया जा सकता है। यह मान भी लिया जाये कि ऐसी व्यवस्था में ये सारी अपूर्णताएँ समाप्त हो जायेंगी और मानव जाति अधिकाधिक स्वतंत्र हो जायेगी। फिर भी एक अपूर्णता शेष रह जाती है–जन्म और मृत्यु के बोध से जन्मी अपूर्णता।

ऊपर किया गया सारा विश्लेषण बुद्धि से प्राप्त ज्ञान के आधार पर किया गया है। पर उपनिषदों ने इस संदर्भ में सचेत किया है। इसी को लक्ष्य करके डा॰ राधाकृष्णनन् ने लिखा है, ''यदि हम बुद्धि द्वारा दी गयी अंतिम व्यवस्था में ही संतोष करें तो उस अवस्था में बहुत्व एवं व्यक्तियों के स्वातंत्र्य को ही दर्शनशास्त्र का अंतिम निर्णय समझना होगा। प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष विश्व का अंतिम लक्ष्य होगा।''[4] वे आगे लिखते हैं, ''उपनिषदों का अभिप्राय यह नहीं है कि बुद्धि एक अनुपयोगी पथप्रदर्शक है। बुद्धि द्वारा प्राप्त यथार्थ सत्ता का विवरण असत्य नहीं है। बुद्धि वहीं असफल होती है जहाँ यह उक्त सत्ता को उसके पूर्ण रूप में ग्रहण करने का प्रयास करती है। अन्य प्रत्येक स्थान पर इसे सफलता प्राप्त होती है। बुद्धि जिस वस्तु की गवेषणा करती है वह मिथ्या नहीं है, यद्यपि वह परम रूप से यथार्य सत् नहीं है।''[5]

भारतीय मनीषा के बारे में ठाकुर जयदेव सिंह की किताब 'प्रतिभिज्ञाहृदर्शन' में की गयी टिप्पणी दृष्टव्य है–"In India, there is no such thing as arm-chair philosophy. Philosophy is not only a way of thought, but also a way of life in this country. It is not born of idle curiosity, nor is it a mere intellectual game."[6] उपनिषदों के संदर्भ में इसी तथ्य की ओर डा॰ राधाकृष्णनन् ने भी संकेत किया है, ''उपनिषत्कारों ने अतीत काल में परिवर्तन पैदा किया, और वैदिक धर्म में जिन परिवर्तनों का उन्होंने समावेश किया वे एक साहसिक हृदय का परिचय देते हैं जिसमें सदा केवल विचार–स्वातंत्र्य के लिए व्यग्रता विद्यमान रहती है। उपनिषदों का लक्ष्य इतना अधिक दार्शनिक सत्य तक पहुँचना नहीं है जितना कि जिज्ञासु मानवी आत्मा को शांति एवं स्वतंत्रता प्राप्त कराना है।''[7]

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिज्ञासु प्रश्न करता है–

''केनेषितं पतति प्रेषित मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।''[8]

(यह मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयों में गिरता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम (प्रधान) प्राण चलता है? प्राणी किसके द्वारा इच्छा की हुयी यह वाणी बोलते हैं? कौन देव चक्षु तथा श्रोत को प्रेरित करता है?)

उपनिषत्कार उत्तर देता है कि निश्चय ही ब्रह्म एक मात्र आश्रय है जिसके द्वारा यह सब कुछ होता है। उपनिषदों में ब्रह्म एक सार्वभौम आत्मा के रूप में चित्रित हुआ है और ''मोक्ष की प्राप्ति केवल सच्चे अर्थों में धार्मिक जीवन बिताने एवं विश्व की आत्मा का आभ्यान्तर दृष्टि द्वारा साक्षात्कार करने से ही हो सकती है।''[9]

वैदिक साहित्य के बाद लौकिक साहित्य में भारतीय मनीषा की जीवनदृष्टि व्यक्त हुई है, जिसके प्रतिनिधि काव्य रामायण और महाभारत हैं। संस्कृत वाङ्गम्य में रामायण और महाभारत को उपजीव्य काव्य माना गया है। इन्हें आधार बनाकर, इनके

कथातत्त्व से भाग ग्रहण करके बाद के कवियों ने अन्यान्य विधाओं में रचनाएँ की हैं और यह क्रम आज भी जारी है। रामायण के संबंध में ध्यान देने की बात है, जैसा कि राधावल्लभ त्रिपाठी के वाल्मीकि विषयक अध्ययन से पता चलता है कि, ''वाल्मीकि रामायण की रचना होने के पहले रामकथा के कहने–सुनने या उसके कथा गायन की परम्परा चली आ रही थी। हरिवंशपुराण में बताया गया है कि वाल्मीकि ने रामायण लिखी, उसके पहले राम की कहानी सूतों, चारणों या कुशीलवों के द्वारा गाई जाती रही। वाल्मीकि ने लोककथा के रूप में देश के अलग–अलग अंचलों में गायी जाने वाली आख्यान की एक बड़ी धरोहर को इस प्रकार का सुसंबद्ध साहित्यिक रूप दे दिया कि वह अमर हो गई।''[10]

उपजीव्यता के संबंध में विचार करने वाली बात यह है कि बाद की रामकथाओं में वाल्मीकि से कथानक–चरित्र आदि का आधार लेने पर भी ये उत्तरवर्ती कथाएँ अपने कलेवर में पूर्णतः भिन्न–भिन्न किस्म की चिन्ताएँ और जीवनदृष्टियों को व्यक्त कर रही थीं। ठीक इसी प्रकार लोक में प्रचलित भाट–चारणों द्वारा गायी जाने वाली कथा में वाल्मीकि ने भी अपनी चिन्ताएँ मिलायी होंगी। वैसे भी हर युग के अपने वैचरिक द्वन्द्व होते हैं। बड़ा कलाकार वही है, जो युगीन और शाश्वत दोनों तरह की समस्याओं के सन्दर्भ में अपने युग के वैचारिक द्वन्द्व के संबंध में कोई रचनात्मक समाधान प्रस्तुत करता है। सृजनशीकता या तो इस द्वन्द्व में से नया मार्ग बना देती है। या द्वन्द्व को उसके सारे आयामों के साथ प्रस्तुत कर, उसमें से किसी एक की ओर अपना मत व्यक्त करती है। हिंसा–अहिंसा, प्रवत्ति–निवृत्ति, वेद–मार्ग और लोकायत मार्ग पर वाल्मीकि ने विचार किया है। ये सभी प्रश्न उनके चिन्तन में आपस में जुड़े जान पड़ते हैं। चित्रकूट में जब भरत राम से मिलने आते है तो राम भरत से पूछते हैं–

''कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।

अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः।।

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यामानेषु दुर्बुधाः।

बुद्धिमान्वीक्षकी प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते।।''[11]

(हे तात, कहीं तुम लोकायतिक ब्राह्मणों के बहकावे में तो नहीं आते? अपने को पण्डित समझने वाले ये लोग अनर्थ की सृष्टि करने में कुशल होते हैं। प्रमुख धर्मशास्त्रों के होते हुए भी ये दुर्बुध लोग आन्वीक्षिकी बुद्धि का आश्रय पाकर निरर्थक बातें कहते रहते हैं।)

ध्यान देने वाली बात यह है कि परम्परा में लोकायित जो कि भौतिकवादी प्रणाली से संबद्ध हैं, का प्रतिपक्ष आदर्शवाद है। आदर्शवाद की मुखर अभिव्यक्ति वेदान्त और बौद्ध मत की शिक्षाओं में निवृत्ति मार्गी किस्म की है। यहाँ राम भरत को लोकायितों के बहकावे में न आने का सुझाव देते है। स्पष्ट है कि वाल्मीकि का मत अपने समय में चल रहे वैचारिक संघर्ष के किस पक्ष में है। पर लोकायितों का प्रतिपक्ष होकर भी वाल्मीकि प्रवृत्ति मार्ग के ही पक्षधर हैं। चित्रकूट में जाबालि राम से कहते हैं,''इस संसार में कोई किसी का बंधु नहीं है, न किसी–से–किसी को कुछ मिलने वाला है। मनुष्य अकेला ही उत्पन्न होता है, और अकेला ही मरता है। इसलिये मेरे माता पिता हैं यह सोचकर जो व्यक्ति उनमें आसक्त होता है, वह उन्मत्त ही है। यहाँ कोई किसी का नहीं है। जिस प्रकार गाँव जाता हुआ व्यक्ति रास्ते में कहीं बसेरा करता है, और फिर उसे छोड़कर आगे बढ़ जाता है, इसी प्रकार मनुष्य के लिए माता–पिता, घर, धन आदि उसी डेरे के समान हैं, बुद्धिमान लोग उसमें आसक्त नहीं होते।''[12]

राम जाबालि के इन तर्कों का प्रत्याख्यान करते हैं। इसी प्रकार हिसा–अहिंसा का प्रश्न, जो बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के आने के बाद बहुत प्रबल और स्पष्ट रूप में चारों तरफ फैल गया था, इन धर्मों के प्रचारित प्रसारित होने के पूर्व भी समाज में पैठ बनाने लगा था। अपने समकालीन दौर में व्यापक होते हिंसा–अहिंसा के विमर्श को राम और सीता के संवाद के माध्यम से वाल्मीकि ने स्पष्ट किया है। वनवास के समय सीता

राम के सामने हिंसावृत्ति को लेकर मूलभूत प्रश्न उपस्थित करती है, ''काम से उत्पन्न व्यसन से निवृत्त व्यक्ति ही धर्म को पा सकता है, तथा काम से होने वाले तीन ही व्यसन हैं–मिथ्यावचन, परस्त्रीगमन तथा शत्रुता की भावना। प्रथम दो की तो आपमें संभावना ही नहीं, तीसरा दूसरे प्राणियों की हिंसा करने का व्यसन–आप में संभव हो सकता है। मैं स्नेह तथा सम्मान के भाव से आपको मात्र स्मरण दिलाती हूँ, शिक्षा नहीं देती कि जब वैर नहीं है तो आप धनुष उठाकर दण्डकारण्य के राक्षसों का वध करने का विचार न करें। कहाँ शस्त्र धारण तथा कहाँ वनवास? यह परस्पर विरोधी है, अतः आप तो (वनवास के) देशधर्म का पालन करें। शस्त्र के तो साहचर्य से ही कलुषित बुद्धि उत्पन्न होती है।''[13]

साथ ही सीता ने राम के समक्ष एक मुनि का उदाहरण भी प्रस्तुत किया कि धरोहर के रूप में इन्द्र के शस्त्र की रक्षा करने के कारण कलुषित बुद्धि होकर वह मुनि नरक का भागी बना। शस्त्र का संस्पर्श भी मतिनाश करने वाला होता है सीता द्वारा दिए गए अहिंसावादियों के इस तर्क का राम ने दृढ़तापूर्वक खण्डन किया–

''क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दों भवेदिति।''[14]

(क्षत्रिय धनुष या अस्त्र शस्त्र इसलिए धारण करता है कि समाज में दुखी जनों को गुहार लगाने की आवश्यकता न पड़े।)

अन्यान्य प्रसंगों में वाल्मीकि इन प्रश्नों की उद्‌भावना का अवकाश निकालते रहे हैं, जो कहीं भी कथा–विस्तार के देशकाल को भंग नहीं करता। अधिकतर स्थानों पर ये प्रश्न विमर्श या उपदेश के रूप में सामने रखे गए हैं। इनकी सबसे सटीक साहित्यिक अभिव्यक्ति हुयी है हनुमान के चरित्र में। उपदेश और विमर्श में न तो परिस्थितियों के फेर में फँसे ऐसे व्यक्ति का चित्र होता है, जिसे आगे का मार्ग ही न सूझ रहा हो और न ही पलायन के हद तक चले जाने वाली मानसिकता का चित्रण। इस द्वन्द्व और उहापोह से गुजरता हुआ मनुष्य ही तो साहित्य के केन्द्र में है। वाल्मीकि

ने हनुमान के चरित्र के माध्यम से इन प्रश्नों को रचनात्मक जीवन्तता के साथ सामने रख दिया। उपदेश और विमर्श के रूप में खड़े किए जाने पर शायद कुछ लोगों का ध्यान इनकी ओर न जाता। सर्जनात्मक जीवन्तता प्रश्न को उसके सभी मानवीय आयामों के साथ प्रस्तुत कर देती है। सीता की खोज के समय हनुमान की स्थिति ठीक इसी प्रकार की है–परास्त, पलायनोन्मुख, निराश–

''हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिकः।
वानप्रस्थो भविष्यामि अदृष्ट्वा जनकात्मजाम्।।
सागरानूपजे देशे बहुमूलफलोदके।
चिंति कृत्वा प्रवेक्ष्यामि समिद्धमरणीसुतम्।।
उपविष्टस्य वा सम्यग् लिङ्गनं साधयिष्यतः।
शरीरं भक्षयिष्यनित वायसः श्वापदानि च।।
इदमप्यृषिभिर्दृष्टं नियणिमिति में मतिः।[15]
सम्यगापः प्रवेक्ष्यामि न चेत् पश्यामि जानकीम्।।''

(जो हाथ में आ जाए या मुख में आ जाए उसी को खाकर निर्वाह करने वाला तथा वृक्ष के मूल में निवास करने वाला वानप्रस्थ बन जाऊँगा अथवा चिता बनाकर अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा–अथवा प्रयोपवेश व्रत लेकर बैठे हुए मेरे शरीर को कौए या जंगली जानवर खा लें। ऋषियों ने जीवन से मुक्ति पाने का यह भी मार्ग निर्दिष्ट किया ही है। अथवा मैं सीता को नहीं देख सका तो जल–समाधि ले लूँगा।)

इस द्वन्द्व का उपराम भी स्वयं हनुमान के भीतर से ही होता है। यही जीवनी शक्ति जो गतिशीलता को और जीवन में वरेण्य की खोज को स्थान देती है, वाल्मीकि ने हनुमान के माध्यम से समाज को दी है–

''विनाशे बहवो दोषा जीवन् प्राप्स्यामि भद्रकम्।

तस्मात् प्राणान् धरिष्यामि ध्रुवो जीवति संगमः।।''[16]

(अपने आपको इस प्रकार नष्ट कर देने में तो बहुत दोष है। यदि जीवित रहा, तो कभी–न–कभी तो कल्याण की प्राप्ति होगी हो। इसलिए प्राणों को धारण तो किए ही रहूँगा–जीवित रहा तो समागम निश्चित है।)

जीवन की वरेणयता की खोज–यही रामायण की रचनात्मक उपलब्धि है, जो निवृति मार्ग का सब प्रकार से खण्डन कर जीवन को जीने में और सार्थक बनाने में इसकी पूर्णता को देखती है। इस सार्थकता से इतर किसी अन्य प्रकार की मुक्ति वाल्मीकि का उद्देश्य नहीं है।

वाङ्मय के सबसे बड़े और क्रमशः विकसित हुए महाकाव्य में किसी भी मूल्य को खोजना नितान्त कठिन है। कपिल मुनि के उपदेशों से लेकर श्रीमदभगवदगीता के व्यापक विस्तार को महाभारत में देखा जा सकता है। अन्यान्य मत–सम्प्रदायों के मूल्यों और मूल्य संबंधी अवधारणाओं से यह महाकाव्य भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में महाभारत में मुक्ति के स्वरूप को समझने के लिए महाभारतकार के मन्तव्य को समझना सहायता कर सकता है। और महाभारतकार का यह मन्तव्य 'धर्म' के विश्लेषण में अभिव्यक्त हुआ है। युधिष्ठिर ही सर्वत्र महाभारतकार के मन्तव्य के वाहक है और सबसे प्रमुख चरित्र भी। परम्परा में महाभारत के अंगी रस के रूप में शान्त रस को स्वीकार किया जाना भी स्पष्ट करता है कि भारतीय मनीषा और जनमानस दोनों ने महाभारतकार के मन्तव्य को यानी धर्म की प्रतिष्ठा की चेष्ठा को भली–प्रकार ग्रहण किया है। अतः महाभारत में वर्णित धर्म के स्वरूप केा समझकर मुक्ति के स्वरूप को जाना जा सकता है।

महाभारत में धर्म के तीन लक्षण कहे गए हैं। पहला है–'आनृशंस्यं परोधर्मः।' युधिष्ठिर के माध्यम से तीन प्रसंगो में इसकी प्रतिष्ठा की गई है। पहला प्रसंग युधिष्ठिर–यक्ष संवाद के समय का है। यक्ष के सारे प्रश्नों के सही उत्तर देने के वरदान स्वरूप किसी एक भाई के जीवन को चुनते समय युधिष्ठिर ने सहदेव के जीवन का

चुनाव किया। यक्ष द्वारा पूछने पर कि भीम या अर्जुन को क्यों नहीं चुना तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया–'आनृशंस्यं परोधर्मः।' मेरी माता का एक पुत्र मैं जीवित हूँ तो मेरे चुनाव से माद्री का भी एक पुत्र जीवित रहे तभी मानुष भाव का निर्वाह होगा। इसी प्रकार दूसरा प्रसंग है–अर्जुन के मित्र चित्रसेन द्वारा दुर्योधन की उसकी पूरी मण्डली के साथ बंधक बना लेने और उन्हें समाप्त करने देने को तत्पर होने पर युधिष्ठिर द्वारा अपने भाईयों से कहना कि चित्रसेन से कहकर और अगर जरूरत पड़े तो लडकर उन्हें मुक्त करवाया जाये। युधिष्ठिर ने अपने न्याय के लिए किसी और की ओट को स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार तीसरी बार उनकी परीक्षा तब हुई जब वे स्वर्ग की ओर जा रहे थे। उनके सारे भाई स्वर्ग द्वार से पहले ही गिरते गये, लेकिन साथ पहुँचा एक कुत्ता। युधिष्ठिर ने कुत्ते के साथ प्रवेश का आग्रह किया। पर भीतर से इसे अस्वीकार कर दिया गया। युधिष्ठिर ने कहा मुझे ऐसा स्वर्ग नहीं चाहिए जहाँ मानुष धर्म का निर्वाह न हो। इस पर भीतर से प्रश्न हुआ कि आपके एक–एक भाई गिरते गए, द्रौपदी भी गिर गई पर आपने पीछे मुड़ कर नहीं देखा। तब कहाँ गई थी आपकी करुणा। युधिष्ठिर का जवाब था–मैं जीवन को महत्त्व देता हूँ, जीवन के आगे बढ़ते हुए प्रवाह को महत्त्व देता हूँ। युधिष्ठिर के आनृशंस्यं परोधर्मः को व्याख्यायित करते हुए विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है, ''जो जीवन को धारण करे वह धर्म है, जो सम्पूर्ण जीवन को सँभाल कर रख सके वह धर्म है। इसलिए महाभारत में कई बार इसका उल्लेख हुआ कि जीवन् धर्ममवाप्नुयात्, जीवन जीते हुए ही या दूसरे शब्दों में जीवन को पूरी तरह मन से स्वीकारते हुए, उसकी सार्थकता पहचाने हुए ही धर्म को पाया जाता है। इसकी व्याख्या भी हुई है कि सार्थकता क्या है, इसकी सार्थकता है मानुष भाव में। मानुष भाव अपेक्षा करता है सबके भाव को अपना भाव मानने की। इस भाव से कटना ही नृशंसता है; नरत्व की हत्या है और आनृशंस्य के नकारात्मक भाव से मुक्त होना ही परम धर्म है।''[17]

धर्म का दूसरा लक्षण है–'स्वस्य च प्रियमात्मनः'। इस सन्दर्भ में विद्यानिवास जी लिखते है, ''आत्मनः प्रियं ही पर्याप्त था, स्वरूप विशेषण निरर्थक लगता है पर जब निजी आत्मा के प्रिय होने की बात कही जाती है तो उसका अभिप्राय है आत्मा में कुछ ऐसा भी है जो निज नहीं है, जो आरोपित है, जैसे जाति, कुल, परिस्थिति, उसका निज बिल्कुल अलग है, उस शुद्ध–स्व की ओर से प्रिय–अप्रिय का विचार होना चाहिए। और वह निज जितना ही सब दायरों सीमाओं से मुक्त होता है, उतना ही विस्तृत होता है, व्यापक होता है, उसमें सब आते हैं, वह किसी एक में नहीं समाता।''[18]

महाभारत के अनुसार धर्म का तीसरा लक्षण है–'गतिशीलता'। इस गतिशीलता में ऋत् और सत्य का एकीकरण है। ऋत का अर्थ है 'गति' और सत्य का अर्थ है 'सत्ता बने रहना'। यानी गति ऐसी न हो जो स्वरूप की पहचान नष्ट कर दे और बने रहने का अर्थ जड़ता न हो। बल्कि यह गतिशीलता दोनों का समन्वय हो। दोनों ऐसे सधे हों कि कोई आयास ही न मालूम हो। महाभारतकार के बताये गए धर्म के इन लक्षणों में हमें जीवन के प्रति ऐसे दृष्टिकोण का दर्शन होता है जो शाश्वत होने के साथ–साथ गतिशील है और जिसमें मानवता की सारी संभावनाएँ निहित हैं। आनृशंस्य करुणा और अहिंसा से कहीं वृहत्तर मूल्य है। वह दूसरे में अपनी पहचान पाना है,दूसरे के लिए जीना भी है। वह ठहरना नहीं चलते रहना है, वह बचना नहीं, अपने को निरन्तर आग में झोंकने का जोखिम मोल लेते रहना है, क्योंकि उस आग से जीवन को बचाना है और साथ ही अपने आत्म के निज को भी प्राप्त करना है। यही महाभारतकार की मुक्ति की अवधारणा है।

इन दो महाकाव्यों के बाद भारतीय जनमानस पर सर्वाधिक प्रभाव श्रीभदभगवदगीता का रहा है। श्रीभदभगवदगीता में मुक्ति के स्वरूप को समझने के लिए उसके एक श्लोक से प्रारंभ करना समीचीन होगा–

''किं कर्म किं कर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षसेशुभात्।।''[19]

(क्या कर्म है, क्या अकर्म है इस विषय में कविगण भी मोहित हैं। अतः कर्म के विषय में मैं तुम्हे बताउँगा, जिसे जानकर तुम मोक्ष को प्राप्त हो जाओगे।)

गीता किसी स्थिरप्रज्ञ व्यक्ति की रचना है, जिसके सामने इसके दो अभीष्ट थे। पहला, विभिन्न मतमान्तरों की समान्य मनुष्य के सन्दर्भ में उपयोगिता क्या है। और दूसरा, इस सबमें से कातकार निकाले गए सूत्र पर चलकर होने वाली प्राप्ति के स्वरूप का विश्लेषण। श्रीभदभगवदगीता में वर्णित मुक्ति की अवधारणा का विश्लेषण करने से पहले 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास का एक प्रसंग बड़ा समीचीन जान पड़ रहा है।

उपन्यास का एक प्रसंग है। एक शिष्य अपने नाथपंथी गुरु के पास रहकर अभ्यास कर रहा है। कुछ समय बीतने पर गुरु अपने शिष्य को बुलाते हैं और कहते हैं कि उसे अब अपनी आगे की साधना किसी सिद्ध मत के गुरु के पास जाकर, उनके सानिध्य में करनी होगी। शिष्य को आघात लगता है। वह विह्वल होकर भावुकता के साथ अपने गुरु से कहता है कि उससे क्या भूल हो गयी है, जिसका दण्ड उसे मिल रहा है, क्यों आप मुझे अपने से दूर कर रहे हैं। वैसे भी भारतीय परम्परा में गुरु चुनने से पहले उसकी परीक्षा करने का कई बार जाँचने–समझने के अवसर की व्यवस्था है। पर एक बार गुरु बना लिए जाने पर विकल्प की छूट नहीं है। द्विवेदी जी ने उपन्यास में इस परम्परागत तथ्य का उल्लेख नहीं किया है। फिर भी शिष्य के भावनात्मक जुड़ाव को उपन्यासकार ने बड़ी सफलता से उकेरा है। अपने शिष्य की बेचैनी को समझकर गुरु उससे प्रश्न पूछते हैं कि जब पहुंचना एक ही जगह है तो ये अन्यान्य मार्ग क्यों हैं? इस प्रश्न से जब शिष्य सचेत होता है और भावुकता के ज्वार से बाहर आकर समझ सकने की स्थिति में आता है, तब उसके गुरु आगे कहते हैं–हर व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ, मानसिक बनावट, अभिरुचियाँ और क्षमताएँ अलग–अलग हैं। जब से तुम

मेरे समीप अभ्यास कर रहे हो, मैंने गौर किया है कि तुम्हारी प्रकृति और वृत्ति नाथ साधना के साम्य में उतनी नहीं है, जितनी सिद्ध साधना के साम्य में है। इसलिए मोह न करके अपने अनुकूल मार्ग की ओर बढ़ो। आत्मा ज्ञान ही नहीं जीवन के हर क्षेत्र में अगर इस मूल मंत्र को समझ लिया जाये तो, 'तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम' अवश्य ही संभव हो जाएगी।

गीता की पूर्वकालीन स्थितियों पर विचार करें तो वेद, उपनिषद, वेदांतसूत्र, स्मृतिशास्त्र, योगसूत्र आदि ग्रन्थों द्वारा जीवन–जगत की गहन समस्याओं पर गम्भीर विचार किया जा चुका था। इतना ही नहीं ज्ञान पद्धति में तर्क–वितर्क प्रणाली, संवाद–परिसंवाद एवं गुरु–शिष्य परम्परा का विकास हो रहा था। विश्वास परक ज्ञान एवं बुद्धिपरक विज्ञान में साम्य स्थापित करने की प्रक्रिया भी शुरू हो गयी थी। लेकिन इन सारे प्रयासों के बावजूद कुछ समस्याएँ उभरकर सामने आने लगी थी, जिनका समाधान आवश्यक था। शायद इन समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए ही गीता ज्ञान का उद्घोष किया गया।

एक समस्या तो यह थी कि ब्राह्मण ग्रन्थों से यज्ञवाद, देहवाद, कर्मकाण्ड और पाखण्ड का सम्राज्य फैल रहा था। दूसरी तरफ उपनिषद ज्ञान से मुख्यतया संयास की परम्परा प्रतिष्ठित हो रही थी। इस प्रकार साधारण जन पर कर्मकाण्ड और संयास की दोहरी मार लग रही थी और समाज के बिखरने और मर्यादाविहीन हो जाने का संकट गहराने लगा था। इसलिए उस समय एक समन्वित विश्व दृष्टि के विकास की जरूरत थी जिसके माध्यम से कर्मवाद और कर्मसंयासवाद के बीच एक नया समन्वय स्थापित किया जा सके। उस युग में ज्ञान के क्षेत्र में एक दूसरी समस्या यह थी कि उपनिषदों की ज्ञान की उड़ान सूक्ष्मता और रहस्यमयता आम आदमी के समझ के परे थी। इसलिए आम आदमी को उपनिषद के ऋषियों के असाधारण प्रयास के ज्यादा लाभ नहीं हो रहा था। उस समय वास्तविक चुनौती यह थी कि ज्ञान की गुह्यता एवं गूढ़ता

को खोए बिना इसका साधारणीकरण कैसे किया जाए कि उसका लाभ साधारण जन को प्राप्त हो सके। गीताकार ने इस चुनौती को भली भाँति समझा है सांख्य, योग, वेदान्त और भक्ति के सम्बन्ध में साहसपूर्वक ये घोषित किया कि ये सभी एक दूसरे के पूरक हैं और सबका लक्ष्य मनुष्य की मुक्ति है–यही श्रीमदभगवतगीता का सबसे बड़ा प्रस्थान है।

सांख्य के पुरूष और वेदान्त के ब्रह्म में मेल कराने का सूत्र गीताकार ने खोजा। सांख्य दर्शन में 24 मूल तत्त्वों की और 25 वें तत्त्व के रूप में 'पुरूष'की कल्पना की गयी है। परन्तु यह पुरुष एक नहीं अनेक है। जितनी जीवात्माएँ है, उतने ही पुरुष हैं। सांख्यमतानुसार जब पदार्थ की सत–रज–तम की त्रिगुणावस्था अपनी साम्यावस्था में नहीं रहती तो पुरुष इन्हीं से क्रिया करके विकास करता है और जगत की रचना होती है। अब सांख्य के इस विवेचन का जन सामान्य के लिए क्या विशेष प्रयोजन है। सांख्यमतानुसार पुरुष जब पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर इसके त्रिगुणावस्था से निर्लिप्त हो जाता है तो वह अपने मूल स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, यही मुक्ति की अवस्था है। ऐसी स्थिति में पुरुष एक ढ़ेले के समान संज्ञाहीन अवस्था में चला जाता है। ऐसी संज्ञाहीन मुक्त दशा का आम आदमी के लिए क्या प्रयोजन हो सकता है। गीताकार ने इसीलिए सांख्य के पुरूष को वेदांत के ब्रह्म के साथ एकमेक किया है।वह एक ही है और वही है, सब कुछ उसी के भीतर है। और यह जगत उसी की माया की अभिव्यक्ति है। वेदांत के इस निर्विकल्प ब्रह्म को भी गीताकार ईश्वर की संज्ञा तक ले आया है। यद्यपि श्रीमदभवदगीता का ब्रह्म भी लीला करने, भक्त का कल्याण करने के लिए सब कुछ में शामिल होता है, पर रहता निर्लिप्त ही है।

दार्शनिक स्तर पर साम्य बिठा लेने के बाद अभ्यास की जो अन्यान्य प्रणालियाँ हैं, वे एकदूसरे के विपरीत न जाकर एक दूसरे की पूरक बन जाती हैं। ज्ञान–कर्म–भक्ति की त्रिपुटी पूरी हो जाती है और श्रीमदभगवदगीता एक ऐसा व्यापक

समायोजन रच देती है जिसमें मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप कोई भी मार्ग चुन सकता है–

''श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्म फलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।''[20]

इस प्रकार श्रीमदभगवदगीता का आयोजन सभी दार्शनिक प्रणालियों में समन्वय स्थापित करके साधारण मनुष्य के लिए उसकी वृत्ति के अनुरूप मुक्ति के कई मार्गों का निदर्शन करने के लिए किया गया है। गीता का यह आयोजन भारतीय मनीषा द्वारा व्यक्तित्व की उपलब्धि के लिए किया गया सबसे विराट आयोजन है।

साथ ही गीता ने वैदिक यज्ञ–काण्ड को भी व्यापक बनाया। यज्ञ जो वेदों में मात्र कर्म–काण्ड था गीता ने उसे जीवन–यज्ञ में बदल दिया और इस जीवन यज्ञ में अपने कल्याण के साथ दूसरों और समाज के कल्याण को भी शामिल किया, वह भी निर्लिप्त रहते हुए ही। इस तरह गीता ने मुक्ति के वैयक्तिक आयाम को समष्टिगत बनाया। गांधी और अज्ञेय में यह बोध बहुत गहरा है।

अज्ञेय पर बौद्ध चिन्तन, बोधिसत्वों की कथाओं और बौद्ध मत की पारिभाषिक पदावली का गहरा प्रभाव है। वे अपनी कविताओं में 'प्रज्ञा पारिमिता' जैसे महायानी पारिभाषिक पदों का प्रयोग करते हैं। तो साथ ही उन्हें अवलोकितेश्वर के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना से अपने लिए मुक्ति सम्बन्धी मूल्य प्राप्त होता है। भक्ति कविता की पीठिका के रूप में जिस सिद्ध–साहित्य को समझने–जानने का प्रयास किया जाता है, वह भी महायान शाखा का ही एक संप्रदाय है। धर्मवीर भारती ने वज्रयान परम्परा के विकास के सम्बन्ध में बताया है कि ''बौद्ध तंत्र साधना महायान की शाखा थी और वज्रयान महायान का पूर्वाधिकार स्वीकार करता है।''[21] महायान शाखा ने मुक्ति के आयाम को विस्तार दिया है। इस संदर्भ में भारती जी की दो उक्तियां दृष्टव्य हैं। पहली–''महायान की विचार तथा साधना–पद्धति की मूल प्रेरणा यह थी कि बौद्धमत

की कठिन और दुस्साध्य जीवन–पद्धति को अधिक लोकपरक और सहज बनाया जाय। इस प्रवृत्तिमूलक साधना–पद्धति पर उनका इतना आग्रह होने का प्रमुख कारण यह था कि उनकी चिन्तना का केन्द्र केवल व्यक्ति तथा उसका निर्वाण नहीं था, वे लोकहित तथा समस्त लोक की मुक्ति के लिए उत्तरदायित्व का अनुभव करते थे।''[22] दूसरी उक्ति है, ''ऐसा नहीं है कि महायानी आचार्य वैयक्तिक पूर्णत्व या वैयक्तिक साधनापरक हीनयान का सर्वथा निषेध करते हों किन्तु वे उसे हीन कोटि की साधना मानते हैं क्योंकि उसमें करुणा का अभाव होता है।''[23]

महायान शाखा की दोनों उपशाखाओं (माध्यमिक, विज्ञानवाद) में 'त्रिकाया' और 'बोधिचित्त' के माध्यम से निर्वाण की स्थिति बतायी गई है। इस सम्बन्ध में धर्मवीर भारती ने लिखा है, ''इस बोधिचित्त को उत्पन्न करने के लिए छह पारमिताओं की साधना करनी होती है। यही पारमिताएं बोधिचित्त को पार ले जाती हैं। पारमिताएं इस प्रकार हैं– दान, शील, क्षान्ति (सहनशीलता), वीर्य (आध्यात्मिक शक्ति), ध्यान तथा प्रज्ञा अथवा परमार्थ ज्ञान। इनमें से प्रज्ञा अंतिम है और सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसकी साधना के बाद ही बोधिचित्तोपाद होता है और उसमें शून्यता ज्ञान तथा करुणा समन्वित हो जाती है। उसके उपरान्त यह बोधचित्त ऊपर की ओर उद्‌बुद्ध होता है और दस बोधिसत्त्व भूमियों को पार करता है। वे भूमियां हैं– प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती और अंत में मेघमयी भूमि आती है– धर्ममेघ। तब वह प्रज्ञा या परमार्थ ज्ञान का स्वामी हो जाता है। उसमें अनन्त करुणा का उदय होता है और वह पूर्ण बोधिसत्त्व होता है।''[24] इस सैद्धान्तिक भूमि के साथ धीरे–धीरे तांत्रिक साधनाओं का विकास हुआ। त्रिकाया में वज्रकाया भी जोड़ दी गई, शून्यता तथा विज्ञान के साथ महासुख का सिद्धान्त विकसित हुआ जो सिद्ध–साहित्य की उपलब्धि है। भक्ति कालीन कविता पर तो सिद्ध–साहित्य का गहरा प्रभाव है, चाहे कबीर हो या जायसी। परन्तु अज्ञेय ने अपने को महायानी शब्दावलियों, उपपत्तियों और कथानकों तक ही सीमित रखा है। महायान ने जिस तरह व्यक्तिगत

मुक्ति के क्षेत्र में सभी की मुक्ति को शामिल किया है। जिसका सबसे बड़ा और प्रत्यक्ष उदाहरण अवलोकितेश्वर का है। उसी में अज्ञेय को मुक्ति सम्बन्धी सबसे बड़ा मूल्य उपलब्ध हुआ है। अवलोकितेश्वर ने दुखी जन की पुकार सुनकर अपने निर्वाण को तो रोका ही, साथ ही सभी दिशाओं के सभी बोधिसत्त्वों का आह्वान किया कि सभी की मुक्ति तक वे भी अपने व्यक्तिगत निर्वाण को रोककर रखें और सबकी मुक्ति के लिए प्रयास करें।

अज्ञेय को इसी कथा–प्रसंग से बोध हुआ कि मनुष्य के पास एक मात्र स्वाधीन वरण है– उत्सर्ग हो जाने का। यह अज्ञेय की मुक्ति सम्बन्धी अवधारणा की नींव है। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' संग्रह का नाम भी कुछ इन्हीं महायानी प्रभावों के संदर्भ में रखा हुआ जान पड़ता है।

2.3 भक्ति कविता में मुक्ति की अवधारणा

सम्पूर्ण भक्ति साहित्य मुक्ति की तलाश का साहित्य है। सारे भक्त कवियों ने किसी न किसी सम्प्रदाय की दार्शनिक प्रणाली को अपना कर भी समर्पण और प्रेम को मुक्ति या ईश्वरोपब्धि का साधन माना है। सारे भक्तिकाल का लक्ष्य कमोबेश पामार्थिक मुक्ति को पाने का ही रहा है। ऐसे में कबीरदास के संबंध में मुक्ति का सवाल सर्वाधिक सार्थक रूप लेता है। उनकी सारी कविता भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तरह की अपूर्णताओं की तीखी अनुभूति से पैदा हुई रचना है। अनुभूति की ऐसी तीखी चोट संत परम्परा के किसी दूसरे कवि में दिखायी नहीं देती। भौतिक अपूर्णताओं के बोध को कबीर के तीखे व्यग्यों में देखा जा सकता है तो आध्यात्मिक अपूर्णता को उनके विरह के अनुभव में–

> ''बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाऊ।
> मो देख्या जलहरि जलै, संतौ कहां बुझाऊ।।''[25]

विरहानुभूति की ऐसी पंक्तियाँ और ऐसा बिम्ब समूचे हिन्दी साहित्य में दुर्लभ हैं ये कबीर की निजी अनुभूति की कविता है। कई बार कबीर आदि संतो के आध्यात्मिक अपूर्णता की अभिव्यक्तियों को उनकी सामाजिक अपूर्णता के संदर्भ में रिड्यूस करके पढ़ने की वकालत की जाती है कि जैसे अपनी भौतिक अपूर्णताओं को हल न कर पाने के कारण ईश्वर और परलोक के सिवा उस समय विकल्प ही क्या था। हांलाकि, अपनी सारी क्रांतिकारिता जाति के विरोध और धर्म संस्था–मात्र के खण्डन के बाद की कबीर कहते है कि 'रहना नहीं देस बीराना है' तो वे अपनी मुक्ति को पूर्णतः पारलौकिक बना देते हैं। परन्तु इस संदर्भ में नामवर जी का विश्लेषण कहीं सटीक जान पड़ता है। नामवर जी कहते हैं कि कबीर ईश्वर के भरोसे, परम पद, बैकुण्ठ और सारे पारलौकिक उपगामों के बाद भी अपनी जातिगत अपूर्णता की भावना को नहीं भूलते।

'अमरपुर' के साथ जाति के दंश को याद रखना कितनी बड़ी बिडम्बना है और यही कबीर के मुक्ति की कुंजी है। इसे कबीर के एक दोहे में साफ–साफ देखा जा सकता है–

''हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवां न प्रगट होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोई।।''[26]

हृदय के अन्दर ये 'दो' जल रह हैं, जिनका धुआं भी दिखायी नहीं पडता। बल्कि जिसके हृदय में ये जल रहा है, सिर्फ उसे ही मालूम पड़ता है। कबीर के 'अमरपुर' में इन भौतिक अपूर्णताओं से मुक्ति का भी पूरा रूपक मौजूद है।

कबीरदास ने एक अनूठी रीत अपनायी है और इसके अपनाने जाने में ही कबीर के मानस में मौजूद मुक्ति के लिए प्रयत्नशील चेतनता को देखा जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने अध्ययन में दिखाया है कि कबीर का जन्म एक ऐसी जाति–समुदाय में हुआ था, जो बहुत लम्बे समय तक परित्यक्त–सा था। यानी न हिन्दू, न मुसलमान था। बहुत लम्बे समय तक इस समुदाय का कनफटे नाथों के प्रभाव

में आ जाने को द्विवेदी जी स्वीकार करते हैं और यहीं से कबीर के भाव, भाषा, छंद सभी को प्रभावित मानते हैं। ये बात ठीक भी है कि कबीर के शिल्प पर नाथों–सिद्धों का गहरा प्रभाव है। परन्तु इस प्रभाव में रची गयी कविता प्रभावहीन है। इसमें कबीर के व्यक्तित्व का उनकी रचनाशीलता का तनिक भी संस्पर्श नहीं दिखायी पड़ता। उदाहरण के लिए दृष्टव्य है–

''देखिये बंकनालि के अंतरै, पछिम दिसा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे।।''[27]

योगियों में ब्रहमरंन्ध्र की तरफ जिह्वा करके रसपान की क्रिया बहुप्रचलित रही है। कबीरदास ऐसे पदों में उसी पारिभाषिक शब्दावली के साथ योग शास्त्र का ज्ञान उल्था कर देते हैं। कबीर की कविता की शक्ति वहाँ है, जहाँ उनकी अनुभूति की भी शक्ति है। यही अनुभावन शक्ति कबीर की अनूठी रीत है। परिवार, समुदाय या जाति से मिले दाय मात्र से कबीर को जब अपने उत्तर नहीं मिलते तो उनकी अनुभावन शक्ति इधर–उधर दौड़ने लगी–कभी प्रपत्ति–शरणागति तो कभी सार्वभौमिक प्रेम के अवगाहन में। हर ओर वे किसी मतवाद की सीमा में फँसे बिना दौड़ लगाते हैं और कहते हैं–

''हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समंद मैं, सो कत हेरी जाई।।''[28]

और

''हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेर्‌या जाइ।।''[29]

ये ठीक है कि इन दोहों के अर्थ का समीकरण वेदान्त की प्रणालियों से किया जाता है। परन्तु ये कबीर की उस निरन्तर प्रक्रिया का चित्र हैं, जहाँ कबीर अकेले रहकर अपने अलगाव के विरह को महसूस करते हैं और पूर्ण होने के लिए लगातार

प्रयास करते हैं। इस प्रयास में अपनी सामाजिक अपूर्णता को भी वे राम भरतार की आध्यात्मिक उपलब्धि से पूरा कर लेना चाहते हैं।

जायसी के काव्य में मुक्ति के स्वरूप को समझने के लिए, उनके साम्प्रदायिक मतवाद और सिद्धान्त की ओर देखना स्वाभाविक है। जैसाकि परम्परा से प्रसिद्ध है कि मलिक मुहम्मद जायसी एक सूफी कवि हैं। अतः उनके काव्य में सूफी तसव्वुफ और उनके 'सिलसिले' की फिक्र मिलनी चाहिए, जिनके आधार पर उनके मुक्ति संबंधी दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। परम्परा में बहुत से विद्वानों ने इस सन्दर्भ में प्रयास भी किया है। परन्तु इन सारे विद्वानों और शोधकर्ताओं का श्रम एक तरफ और जायसी को समझने में विजयदेव नारायण साही की मति एक तरफ दीख पड़ती है। साही जी ने बड़ी सम्भीरता और परिश्रम से जायसी के फिक्र–ओ–तसव्वुफ, उनके गुरु और सिलसिले को बताने वाले विवरणों का अध्ययन किया है। इस सारे अध्ययन के सन्दर्भ वे लिखते है, ''जायसी की कविता को समझने और उसका वास्तविक मिजाज पहचानने में इस सूची को मथना तीन स्थितियों में ही उपयोगी हो सकता है। पहले, इन बाबाओं के पीछे पड़कर हम मनुष्य, समाज, इस्लाम, कुफ्र, सत्ता, सल्तनत, उदारता, कट्टरता, सहिष्णुता, असहिष्णुता आदि के संबंध में इनके विचारों या दृष्टिकोणों के बारे में कुछ सामान्य नतीजे निकाल सकें। दूसरे, हमें इसके भी प्रमाण मिलें कि जायसी खुद इन मान्यताओं या विचारों से बहुत गहरे प्रतिबद्ध थे। तीसरे, इस प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति हम पद्मावत में देख सकें।

सच तो यह है कि इन तीनों में से एक भी शर्त पूरी नहीं हुई। और जैसे–जैसे अनुसंधान फैलता जाता है और बाबाओं के बारे में जानकारी बढ़ती जाती है, जायसी का मिजाज हाथ से छूटता जाता है। बाबाओं और जायसी के बीच खाई दुर्लंघ्य होती जाती है।''[30]

साही जी इस विश्लेषण के माध्यम से इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि जायसी कोई सूफी सन्त नहीं, बल्कि एक प्रतिभाशाली कवि हैं। उनके काव्य में अभिव्यक्त भाव और विचारों को किसी फिक्र और सिलसिले के हवाले से समझने के प्रयास में, हम जायसी की कविता को छोटा ही करेंगे।

हालाँकि वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपनी पद्मावत की संजीवनी टीका की भूमिका में बहुत–से उदाहरणों के माध्यम से दर्शाया है कि पद्मावत में सिद्ध–नाथों से चली आ रही और संत–काव्य परम्परा में व्यापक रूप से व्यवहरित पारिभाषिक पदों और चिंताओं को भरपूर स्थान दिया है। गंगा–जमुना, सूर्य–चन्द्र, इड़ा–पिगंला, सोमा–रूपा, सर्वशून्य, निर्धातु आदि–आदि कितने ही पारिभाषिक पदों का प्रयोग जायसी ने किया है। इस संन्दर्भ में अग्रवाल जी ने टिप्पणी की है, ''योग की परिभाषाओं की पृष्ठभूमि में ही दोहे का वास्तविक अर्थ समझ में आता है। अपने प्रतीकवाद का और संवर्धन करते हुए इस जोड़ी को (इड़ा–पिंगला आदि) ही कवि ने पद्मावती–नागमती माना है। इस पृष्ठभूमि में यह समझा जा सकता है कि जायसी ने इन दोहों में पद्मावती–नागमती के सौतिया डाह का लम्बा वर्णन क्यों किया। एक ओर तो श्रृगांरपक्ष में यह सौतिया डाह का पल्लवित वर्णन है, दूसरी ओर इसमें चन्द्र–सूर्य या इडा–पिंगला के प्रतीकवाद का भी पूरा समर्थन है। जायसी ने जिस प्रकार के काव्य की कल्पना की थी उसमें इस प्रकार का विशद प्रकरण आवश्यक था।''[31]

पद्मावत के पूर्वाद्ध में इस तरह के अनगिनत उदाहरणों में साधना के मार्ग, उसकी प्रकृति और साध्य के स्वरूप का वर्णन किया गया है। पर ये सारा वर्णन महाकाव्य की कथा–संरचना के भीतर किया गया है, जो मूलतः एक प्रेमकाव्य है। प्रेम की रसात्मक अभिव्यक्ति और साधनापक्ष के उपदेशात्मक स्वर के द्वैध को लक्ष्य करके वासुदेवशरण अग्रवाल आगे लिखते हैं, ''मन की वह शीतलता प्रेम मार्ग का पहला लाभ है। स्त्री–पुरुष के वासना जनित प्रेम की समस्त शब्दावली और परिभाषाओं को स्वीकार

करते हुए भी प्रेम मार्ग की साधना नितान्त विषयातीत, परिपूत और परिशुद्ध होती है। ठीक ऐसे ही सहजयान के साधक भी विषयप्रधान प्रेम की कल्पनाओं को स्वीकार करके केवल उसकी तीव्र अनुभूति और साक्षात् मिलन की उत्कट इच्छा को स्वीकार करते थे, कुछ विषय भोग को नहीं। वासना तो योग के बिना ही जीवन में कहाँ व्याप्त नहीं है? यही स्थिति प्रेम मार्ग की थी। यद्यपि रत्नसेन–पद्मावती खण्ड में कवि ने युगनद्ध भाव एवं रति श्रृंगार का बहुत ही उभरा हुआ चित्र खींचा है, पर वे समस्त रागानुगी प्रतीक काव्य पक्ष के रसात्मक निर्वाह के लिए ही हैं, अन्यथा जायसी काव्य न लिखकर हठयोग प्रदीपिका ही लिखने बैठ जाते।''[32] ठीक है कि जायसी ने सूफी मार्ग और योग मार्ग के अर्थ, आशय और प्रतीकों का उपयोग किया है। इनके माध्यम से सम्प्रदाय की मुक्ति की अवधारणा को भी बताने का प्रयास किया है। परन्तु जिस 'द्वैध' की ओर वासुदेव शरण अग्रवाल प्रकाश डाल रहे है, उसके प्रकाश में देखे तो साही जी का मत एक साहित्यिक कृति के मूल्यांकन के सन्दर्भ में प्रसंगिक मालूम होता है। यह मात्र तसव्वुफ और हठयोग प्रदीपिका का संभाषण नहीं है। पद्मावत जायसी की रचनात्मक उपलब्धि है, जिसे उन्होंने अपने रक्त से सींचा है। इसलिए जायसी की मुक्ति की अवधारणा को उन दार्शनिक मतों से कहीं अधिक उनके रचनाशीलता में देखना उचित है। मध्यकालीन रचना होने के बावजूद पद्मावत में जायसी की आध्यात्मिक अपूर्णताओं के साथ, उनकी नितान्त व्यक्तिगत और सांसारिक अपूर्णताएँ भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। जायसी को अपने रूप को लेकर कॉम्पलेक्स है–

''मुहम्मद कवि जो प्रेम का ना तन रकत न माँसु।
जे मुख देखा तेई हँसा सुना तो आए आँसु।।''[33]

इस अपूर्णता को जायसी अपनी रचनाशीलता की ताब से पाट देना चाहते हैं। जायसी को बड़ा गहरा और स्पष्ट बोध है कि निरंतर खत्म होते इस संसार में नश्वरता के इस अविराम व्यापार से रचनात्मक के माध्यम से ही पार पाया जा सकता है। रूप

के काम्पलेक्स के कारण वे रचना में प्रवृत्त जरूर हुए पर महाकाव्य के अंत में बुढ़ापा और सारहीनता का जैसा दारूण चित्र खींचकर उन्होंने अपनी रचना का अंत किया है, इससे स्पष्ट पता चलता है कि नश्वरता का बोध किस तीक्ष्ण रूप में उन्हें घेर रहा है। और वे इससे मुक्ति 'फूल मरै पै मरै न बासू' के माध्यम से क्रिएटिविटी के रूप में देख रहे हैं–

''मुहम्मद यहि कबि जोरि सुनावा। सुना जो पेम पीर गा पावा।
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई।
और मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।
कहाँ सो रतनसेनि अस राजा। कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा।
कहाँ अलाउदीन सुलतानू। कहाँ राघौ जेइ कीन्ह बखानू।
कहँ सुरूप पदुमावति रानी। कोइ न रहा, जग रही कहानी।
धनि सोई पुरुख जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू।
केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी हम संवरै दुइ बोल।।''[34]

रूप की जिस अपूर्णता ने जायसी को रचनात्मकता की ओर मोड़ा, तो रचनात्कता भी समझ ने अपूर्णता की पहचान को और गहरा व स्पष्ट किया। जायसी में नश्वरता का तीक्ष्ण बोध अपूर्णता की इसी पहचान की देन है। सब कुछ खत्म हो जाता है पर मर्म शेष रह जाता है। राजा और रानी खत्म हो गए, सुलतान और सुग्गा खत्म हो गए। जायसी को भी पता है कि वे भी खत्म हो जायेंगे पर मर्म ही है जो शेष रह जाता है। इसी रचनात्मक उपलब्धि में जायसी की मुक्ति की धारणा निहित है। सृजनशीलता में मुक्ति की पहचान जायसी को अज्ञेय बहुत करीब ले आती है।

भक्ति कविता में सूर का स्थान मूर्धन्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूरदास से कुछ अपेक्षाएँ व्यक्त की हैं, जो उनके पदों

और लीला–वर्णन में शुक्ल जी को नहीं दिखाई पड़ती। कर्मसंयासवाद और कर्मवाद में जैसा सटीक समन्वय श्रीमदभगवतगीता में हुआ है, सूरदास के यहाँ कहीं दिखायी नहीं पड़ता। शुक्ल जी की शिकायत है कि तुलसीदास के राम की भाँति सूर भी श्रीकृष्ण के लोकरंजक, प्रजापालक और कर्मसंयुक्त रूप को चित्रित कर सकते थे। इन सारे गुणों के वर्णन का अवकाश कृष्ण के चरित्र में सर्वसुलभ था। शुक्ल जी लिखते हैं, ''कृष्णभक्ति परम्परा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है, उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्णभक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मन्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े–बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं है। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चल रहे हैं वह हास–विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक में फूला फिरता है। अतः इन कृष्ण भक्त कवियों के संबंध यह कह देना आवश्यक है कि वे अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदास जी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था।''[35]

जबकि श्रीमदभगवतगीता इस समन्वय को कृष्ण के माध्यम से ही पूरा करती है। ज्ञान–कर्म–भक्ति की त्रिवेणी कृष्ण से निकलकर उन्हीं में समा गयी है। पर सूरदास का मन रमा तो अनन्य रूप से अपने प्रभु के रूप–रस वर्णन में। उस प्रेम में जो कृष्ण के प्रति उनके हृदय में विराजमान है। इसे सूरसार की रचना में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। श्रीमदभागवत की 9 स्कन्धों की कथा, जिसमें प्रायः 200 अध्याय हैं, सूरदास जी ने 500 पदों में ही समाप्त कर दी। इसके बाद जब भगवान श्रीकृष्ण के जन्म तथा उनकी प्रेम लीलाओं का प्रसंग आया तो वे इतने रमे कि दसवें स्कंध के पूर्वाद्ध के 49 अध्यायों को 5000 पदों में पूरा किया। साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि सूर ने प्रेम की चर्चा से इतर ऊधौ के ज्ञान–योग की चर्चा के लिए गोपियों के सामने उन्हें मात्र 10–15 पदों में अपनी बात कहने का अवकाश दिया है।

महाभारत में एक कथा आती है, जिसका जिक्र अज्ञेय ने भी अपने लेखन में किया है। एक व्यक्ति जिसके पीछे कोई हिंसक जानवर पड़ा है। वह भागकर प्राण रक्षा के लिए किसी पेड़ पर चढ़ जाता है। संयोग से पेड़ की ड़ाल सख्त न होने के कारण पास के एक कुएँ की ओर झुक जाती है। कुएँ में विषैले साँप फुफकार रहे हैं। व्यक्ति स्वयं को दोनों ओर मृत्यु से घिरा हुआ पाता है। उसी क्षण कुएँ की जगत पर घास की नोंक के ऊपर एक ओस की बूँद उस आदमी को दिखती है। थोड़ा झुककर वह उस ओस की बूँद को पी लेता है। अज्ञेय इस दृष्टान्त के माध्यम से बताते हैं कि मृत्यु की अवश्यंभावी स्थिति में, उस व्यक्ति को अपने पूरे अस्तित्व का बोध होता है। और एक बूँद को पीकर जो तृप्ति मिलती है, वह पूर्ण तृप्ति है, क्योंकि व्यक्ति ऐसे संकटापन्न स्थिति में अपने पूरे अस्तित्व के साथ उस बूँद को महसूस करता है। सूरदास का एक पद है–

''अब कैं राखि लेहु भगवान
हौं नाथ बैठौ द्रुम–डरिया, पारधि साधे बान।
ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौं सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान।
सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यो संधान।
सूरदासय सर लाग्यौ सचानहिं, जय–जय कृपानिधान।''[36]

मृत्युबोध सबसे बड़ा और सबसे प्रकट अपूर्णताबोध है। सूरदास ने इसका बड़ा सटीक बिम्ब खींचा है। भारतीय आख्यान परम्परा में इस रूपक के प्रचीन काल से प्रयोग होते रहे हैं। जीवन का विकल्प न दिखने की स्थिति में, 'कौन उबारै प्राण' के बोध से व्यक्ति अपने पूरे अस्तित्व को महसूस करता है। महाभारतकार ने उस अस्तित्वबोध में ही पिपासा की पूर्णता दिखायी। तो सूरदास ने 'कौन उबारै प्रान' की स्थिति में अपने पूरे अवबोध के साथ कृष्ण का स्मरण किया हैं। प्रपत्ति की ऐसी अवस्था

विकल्पहीन स्थिति में ले जाये और वहाँ से अपने प्रभु का स्मरण किया जाये तो कल्याण संभव है।

इस प्रपत्ति के भाव से पूर्णता की प्राप्ति और मुक्ति की उपलब्धता का दार्शनिक आधार आचार्य वल्लभ ने तैयार कर दिया था। ''आचार्य वल्लभ ब्रह्म को नित्य या साकार मानते थे तथा जगत को भी नित्य मानते थे। यह इस कारण कि जगत ब्रह्म कर्तृक है। ब्रह्म कारण और जगत कार्य है। वे जगत को मायिक नहीं मानते। वह तो ब्रह्म से अभिन्न ही है। ब्रह्म अनन्त और अचिन्त्य शक्ति–बल से जगत की सृष्टि करता है। वही जगत का उपादान भी है। इस शक्ति संवलित ब्रह्म को शंकर मतावलम्बी नहीं मानते। उनके मत से ब्रह्म में शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करना ही उसमें विकार स्वीकार करना है। जीव को आचार्य वल्लभ अणु रूप कहते और उसका स्थान हृदय में बतलाते हैं। चन्दन जिस प्रकार एक स्थान में रहकर चारों ओर सुगन्धि फैलाता है उसी प्रकार जीव हृदयस्थित होकर सारे शरीर की चेतन बनाता है। मणि की कांति की भाँति वह प्रसरणशील है।

गोलोक स्थित श्रीकृष्ण का सायुज्य ही मुक्ति है। तथा पति रूप या स्वामी रूप से श्रीकृष्ण की सेवा करना ही जीव का धर्म है। जीव जब समस्त जगत् को कृष्णमय देखकर उनके प्रेम में परमानन्द का अनुभव करता है तब वह अपनी शुद्धावस्था में पहुँचता है। भगवान भी तभी प्रसन्न होकर उसे मुक्त करते हैं।''[37]

वल्लभाचार्य के इसी आदर्श को सूरदास ने सर्वत्र निभाया है। गोलोक में श्रीकृष्ण का जैसा सायुज्य वर्णन सूर ने किया है, किसी और को वह स्वप्न में भी नसीब नहीं है। लीला–नित्य है और उसके स्मरण, कथन और पान में ही मुक्ति है। सूरदास ने कृष्ण जन्म से लेकर उनकी प्रेम लीलाओं की ऐसी झाँकी प्रस्तुत कर दी है कि वे हर एक लीला में तदाकार होकर रस ले रहे हैं। जब कभी ये तदाकारिता भंग होती है, तो सूरदास बेचैन हो जाते हैं। वे इसका कारण समझते हैं। जो उन्हें सम्प्रदाय

की शिक्षा में भी बताया गया हैं; वे उन कारणों का वर्णन करते हैं और अंत में पुष्टि जीव की भाँति कृष्ण की कृपा से उनके दूर हो जाने के विश्वास को भी प्रकट करते हैं। पर सूर की कविता का मर्म वहाँ दिखता है, जहाँ वे अपनी बेचैनी को शब्द, चित्र, बिम्ब या रूपक में ढ़ालते हैं–

''अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम–क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा सबद रसाल।
भ्रम–भोयौ मन भयौ, पखावज, चलत असंगत चाल।।
तृष्ण नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दियौ भाल।।
कोटिक कला काछि दिखराई जल–थल सुधि नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल।।''

सूरदास ने जो भ्रमरगीत का आयोजन किया है। वह भी भक्ति की तन्मयता की श्रेष्ठता को दिखाने के लिए ही किया गया है। ऊधौ के योग और ज्ञान काण्ड को गोपियाँ किसी दार्शनिक मतवाद का सहारा लेकर नहीं काटती। बल्कि हृदय की सच्ची अनुभूति और प्रेम के सरल तर्कों के आगे वे ऊधौ को निरुत्तर कर देती है। यही सूर की विशेषता है। सायुज्यता ही मुक्ति है। सूर ने इस सायुज्य को उपलब्ध करने में कविता से कहीं समझौता नहीं किया है। कृष्ण के प्रजापालक रूप की आवश्यकता न तो वल्लभ सम्प्रदाय को हुई, न ही सूर को। लीला के वर्णन में ही सूर ने अपनी सारी रचनाशीलता उपलब्ध कर ली और कृष्ण की लीला में यही तदाकारिता ही सूर की मुक्ति है।

तुलसी की रचनाओं का वेदान्त से लेकर उसकी परवर्ती परिपाटी विशिष्टाद्वैत, शुद्धद्वैत के तमाम दार्शनिक प्रस्थानों के कोश के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

तुलसी साहित्य की सफलता का रहस्य भी यही है कि पाठक को एक कथा के माध्यम से मानवीय मनोभावों के साथ–साथ उन तमाम दार्शनिक बातों का परिचय एक त्राणकारी ईश्वर के व्यक्त्वि में घुले–मिले रूप में मिल जाता है। सम्पूर्ण तुलसी साहित्य सरलीकरण का एक विराट आयोजन है। महाकाव्य जो जीवन के बहुत बड़े फलक की रचनात्मक अभिव्यक्ति होते हैं, उनके पात्र जीवन की विशालता में अपने को घिरा पाते हैं। वे उलझते हैं; टूटते हैं, संघर्ष करते हैं और विश्राति भी पाते है, जैसाकि वाल्मीकि रामायण के पात्रों के साथ होता है। तुलसीदास के चरित्रों से कहीं अधिक वाल्मीकि के चरित्र सामान्य मनुष्य के निकट जान पड़ते हैं। वाल्मीकि ने उसके सरलीकरण का प्रयास नहीं किया है।

सूर ने भी अपने सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं को अपनी कविता का विषय बनाया है, पर कहीं भी उनके चरित्र अपनी स्वाभाविकता को नहीं छोड़ते है। परन्तु तुलसीदास के सारे चरित्र विचित्र किस्म के सरलीकरण से ग्रसित है। इसका कारण है कि अपने सभी चरित्रों को तुलसी ने एक टाइप के रूप में चित्रित किया है, 'आदर्श टाइप' के रूप में। और ये सारा आदर्श इसलिए है कि तुलसी की कथा उनके प्रभु राम की कथा है। प्रपत्ति और शरणागति का ऐसा आदर्शीकृत वर्णन तुलसी से अन्यत्र नहीं मिलता है। वे सारी बातें, सारे सूत्र, सारी परिस्थितियाँ जो तुलसी ने चित्रित किए है–सबका उद्‌देश्य यही प्रपत्ति है। तुलसी की मुक्ति अनन्य भाव से शरणागति में है।

ब्रह्म का निरूपण, माया का निरूपण, सगुण–निर्गुण, अवतार, जीव, मुक्ति सब कुछ राम की शरणगति में ही सिद्ध होता है। सारी पारिभाषिक शब्दावलियाँ चाहे औपनिषदिक (जीवन्मुक्ति व विदेहमुक्ति) हो या विशिष्टाद्वैत–शुद्धाद्वैत आदि (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, निजधाम, ममधाम, निजपद आदि) की सब कुछ के विश्लेषण–वर्णन का उद्‌देश्य केवल अनन्य भाव से प्रस्तुत हो जाना ही है। इसीलिए राम का नाम त्रिविध तापों से रक्षा करने वाला है। तुलसी के राम राज्य में भी सब

इसीलिए आदर्श का अनुसरण करने वाली व्यवस्था ही है। सारा शास्त्रीय निरूपण कर लेने के बाद तुलसी कहते हैं कि–

''सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं।।''[38]

क्योंकि राम का नाम बड़े से बड़े मोक्ष को देने वाला है–

''अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।।

राम भजत सोइ मुकुति गोसाई। अनइच्छित आवई बरिआई।।''[39]

तन्मयता के द्वारा अपने को ईष्ट में एकाकार हो जाना ही तुलसी के अनुसार मुक्ति है।

2.4. अज्ञेय के समकालीनों में मुक्ति का स्वरूप

एक साहित्यिक की डायरी में मुक्तिबोध ने लिखा है कि उन्हें कविताओं को खत्म करने की कला नहीं आती और इसी कारण से वे छोटी कविताएँ लिखने में अपने को अक्षम महसूस करते हैं। यथार्थ जटिल, संगुम्फित और संचरणशील है और यदि उसे पकड़ने प्रयास किया जाये तो एक बात दूसरी से जुड़ी है, दूसरी तीसरी से जुड़ी हुई है। अतः उसे सम्पूर्णता में काव्यानुभव का हिस्सा बना पाना कठिन है। मुक्तिबोध ने इसीलिए अपने काव्य में फैण्टेसी को शिल्प के रूप में अपनाया है। परन्तु बात सिर्फ शिल्प तक सीमित नहीं है। मुक्तिबोध कविता में जीवन की सम्पूर्णता को तलाशते हैं। और चूँकि जीवन अधूरा है इसीलिए मुक्तिबोध की कविताएँ भी इसे पूरा करने के शोधन में लगी हुई दिखती हैं। एक रास्ता होता है, जीवन की अपूर्णता को कला में पूरा कर लेने का। पर मुक्तिबोध का रास्ता यह नहीं है। वे इस पूर्णता को पाना चाहते हैं खुद में, पर सबके लिए। मुक्तिबोध ने स्वयं को, ब्रह्मराक्षस और साथ ही 'अंधेरे में' कविता के उस रहस्यमय व्यक्ति (जो बार –बार आता है और जो मुक्तिबोध की चेतना के द्वार के साँकल को भी बजाया है) का शिष्य कहा है। ब्रह्मराक्षस जो लगातार

शोधन में लगा रहता है और मर जाता है। पर 'अंधेरे में' का वह रहस्यमय व्यक्ति जो कि

''अब तक न पाई गई मेरी अभिव्यक्ति है,
पूर्ण अवस्था वह
निज–संभावनाओं, निहित प्रभाओं, प्रतिभाओं की
मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव
हृदय मे रिस रहे ज्ञान का तनाव वह,
आत्मा की प्रतिमा।''[40]

जन के सैलाब में विलीन हो जाता है। ब्रह्मराक्षस जहाँ परित्यक्त सूनी बावड़ी में लगातार अपने नाखूनों से खुरचकर अपनी मैल छुड़ा रहा है। वहीं 'अंधेरे में' के रहस्यमय व्यक्ति के हृदय पर एक घाव है जिससे रक्त रिस रहा है और उसे निर्वासन की सज़ा भी हुई है। फैण्टेसी के शिल्प के साथ सदैव प्रतीकार्थ को सुलझाने की समस्या बनी रहती है, क्योंकि इसमें कल्पना की तारतम्यता नहीं होती। फिर भी यदि हम इन दोनों प्रतीकों को पढ़े तो मुक्तिबोध की कविताओं में मुक्ति के सवाल का उत्तर पाया जा सकता हैं। ब्रह्मराक्षस जो

''सुमेरी–बैबिलोनी जन–कथाओं से
मधुर वैदिक ऋचाओं तक
व तब से आज तक के सूत्र
छंदस्, मंत्र, थियोरम
सब प्रमेयों तक
कि मार्क्स, एंजेल्स , रसेल, टॉएन्बी
कि हीडेग्गर व स्पेंग्लर, सार्त्र, गाँधी भी
सभी के सिद्ध–अंतों का

नया व्याख्यान करता वह
नहाता ब्रह्मराक्षस, श्याम
प्राक्तन बावड़ी की
उन घनी गहरायों में शून्य।''[41]

मारा जाता है, परन्तु वह काम आता है। वह मारा जाता है क्योंकि उसे इन नयी व्याख्यायों में कुछ सफलता मिलती है, तो साथ ही मिलती है कुछ 'भव्य असफलताएँ' और 'अतिरेकवादी पूर्णता'। जैसे ही कीर्ति–व्यापारी उसे ठगता है वह अपने ही शोधन का लाभ नहीं उठा पाता और

''पिस गया वह भीतरी
औं बाहरी दो कठिन पाटों के बीच,
ऐसी ट्रैजेड़ी है नीच!!''[42]

ब्रह्मराक्षस कविता में तो मुक्तिबोध बुद्धिजीवियों जिनका प्रतीक ब्रह्मराक्षस है के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते है और उसके अधूरे कार्य को पूरा करने का संकल्प लेते हैं, परन्तु 'अंधेरे में' कविता में आते–आते वे स्वयं ब्रहमराक्षस बन जाते हैं। जो संकल्प या कामना ब्रह्मराक्षस कविता के अंत में व्यक्त हुई है–

''मैं ब्रह्मराक्षस का सजल–उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।''[43]

ये संकल्पशक्ति 'अंधेरे में' कविता में संशयग्रस्त हो गई है। ये रहस्यमय व्यक्ति वह आहूत चुनौती है जो सदैव से मुक्तिबोध के भीतर है। पर वे कभी–कभी ही यदा

कदा उससे आंख मिलाते हैं। उसके बार–बार चुनौती देने और साँकल बजाने पर खुद से ही आँख चुराकर अपनी कमजोरियों की खोह में अपने को छुपा लेना चाहते हैं–

''अरे भाई, मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा,
मुझे डर लगता है ऊँचाइयों से,
बनजे दो साँमल!!
उठने दो अँधेरे मे ध्वनियों के बुलबुले,
वह जन...वैसे ही
आप जला जाएगा आया था जैसे।
खड्डे के अँधेरे में मैं पड़ा रहूँगा
पीड़ाएँ समेटे!!''[44]

यही मध्यमवर्गीय कमजोरी मुक्तिबोध की असल समस्या है। व्यक्ति जिसे जानकर भी अपने को उससे बाहर नहीं ला पाता। पर मुक्तिबोध को जब रात की गहराई में प्रोशेसन निकलता हुआ दिखता है जिसमें समाज के सभी सफेदपोश लोग शामिल है तो वह उद्वेलित हो जाते हैं। अतियथार्थ के इस शिल्प से मुक्तिबोध अपने समय की क्रूर व्यवस्थाओं को सामने लाते हैं। ऐसे में वह व्यक्ति जिसने सुमेरिन बैबिलोनी से लेकर सार्त्र–गांधी तक का शोधन किया है कैसे इस व्यवस्था से तारतम्य बैठा पायेगा। उसे हर कोई, हर तरफ अपने–अपने स्वार्थ को सिद्ध करता हुया दिखायी पड़ता है–

''सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्
चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं;
उनके खयाल से यह सब गप है
मात्र किंवदती।
रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल–बद्ध ये सब लोग

नपुंसक भोग–शिरा–जलों में उलझे''[45]

प्रोशेसन में शामिल लोग ऐसे वर्ग से हैं जिस पर सबसे ज्यादा जिम्मेदारी होती है। वहीं शोषणकारी व्यवस्था से नाभिनाल जुड़ा हो, तब कोई विकल्प ही नहीं बचता। इसीलिए मुक्तिबोध आवाहन करते हैं कि

''अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ ओर गढ़ सब।
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ो के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी हमको
नीलीझील की लहरीली थाहें
जिसमें कि प्रतिपल कांपता रहता
अरुण कमल एक,''[46]

कविता के शुरूआत में जहाँ वे साँकल बजाये जाने पर कहते हैं कि मुझे ऊँचे शिखरों को नहीं पार करना, मुझे ऊचाईयों से ड़र लगता है वहीं कविता का अंत होता है–

''परम अभिव्यक्ति
अविरत घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ
वह है।
इसीलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,

प्रत्येक गतिविधि,
प्रत्येक चरित्र,
व हर एक आत्मा का इतिहास,
हर एक देश राजनीतिक स्थिति और परिवेश
प्रत्येक मानवीय स्वानुभूत आदर्श
विवेक–प्रक्रिया, क्रियागत परिणति!!
खोजता हूँ पठार...पहाड़...समुंदर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोई हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म–संभवा।''[47]

असल में मुक्तिबोध की पीड़ा उस बौद्धिक की पीड़ा है जो अपूर्णता और अन्याय के संरचनात्मक ढ़ाँचे को समझता है। वह समझता है कि पूँजी से जुड़ा मन बदल नहीं सकता। वह ऐसे युग में जीने को अभिशप्त है जहाँ सारी नैतिकता पूंजी के संरचनात्मक ढ़ाचे की गुलाम है और हर कोई मौकापरस्त। साथ ही वह बुद्धिजीवी भी संरचना के इन दबावों से ग्रस्त है और पीड़ाओं में फँसा हुआ है। संरचनागत परिवर्तन के न होने पर और अपनी वैयक्तिक क्षुद्रताओं की सीमा में ज्ञानात्मक संकल्पना के आधार पर मुक्ति को परिकल्पित करने वाले कलाकार में ये कमी एक मनोविकार का रूप ले सकती है। मुक्तिबोध के निजी जीवन के आधार पर कुछ आलोचकों ने इसे व्यक्तित्व–विभाजन के रूप में देखा है। पर डा॰ रामविलास शर्मा ने 'अंधेरे में' कविता को सीजोफ्रेनिया की बीमारी के रोगी की अभिव्यक्ति तक कह दिया है जो यथार्थ का सही भेद नहीं कर पाया है। अगर गौर से अंधेरे में के शिल्प को देखें तो एक बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि एक निहायत चिन्तनशील व्यक्ति की एक रात की सारी

चिन्ताओं का स्केच यह कविता है। मध्य रात्रि से या उसके कुछ बाद से कविता प्रारम्भ होती है। कविता की शुरूआत का देशकाल कविता में दर्ज है। एक आंतरिक असमंजस से कविता शुरू हुयी है। धीरे–धीरे जैसे कविता आगे बढ़ती है, मुक्तिबोध घड़ी के समय को भी बताते चलते हैं। चार बजे के करीब ये स्वप्न चित्र बहुत ज्यादा स्याह और गाढ़े हो गए हैं। भोर होते होते एक बड़ा विचित्र अनुभव घटित होता है। कवि का अचानक स्वप्न भंग होता है और वे सारे चित्र बिखर जाते हैं। वह खुद को अकेला पाता है और पाता है कि–

''मस्तिष्क–हृदय में गहरे व बारीक छेदों से भर गए।
पर, उन रन्धों के दुखों में गहरा
प्रदीप्त ज्योति का रस बस गया है।
मैं उन सपनों का खोजता हूँ आशय,
अर्थों की वेदना घिरती है मन में।
अजीब झमेला
घूमता है मन उन भावों के घावों के आस–पास
आत्मा में चमकीली प्यास भर गई हैं।''[48]

रात भर की इस विचार–प्रक्रिया के बाद भोर तक मस्तिष्क इतना थक गया है कि निरन्तर चिन्तन का प्रकाश तो भर गया है, पर इस क्रिया में किसी उपलब्धि का न होना अजीब झमेला बन गया है। इन सारे प्रयासों और चिन्तन के बाद भी सम्पूर्णता और मुक्ति की कोई राह न दिखने पर 'आत्मा में चमकीली प्यास भर गई है'। इस थकान और अपूर्णता को मुक्तिबोध प्रणयिनी के चुम्बन से पूरा करना चाहते हैं। कविता का यह हिस्सा पूरी कविता को दूसरे धरातल पर ले जाता है। बल्कि इसे और सच्चाई के करीब ले आता है। केवल इससे और इसी हिस्से से पूरी कविता अतियथार्थवाद के शिल्प में यांत्रिक तर्कणा होने से बच जाती है। यह नितान्त मानवीय स्वभाव है कि

मनुष्य जागतिक प्रपंचों के कारण, चिन्तन और प्रदत्त सभी परिस्थितियों में अपनी सार्थकता को खोज पाने में अक्षम और अधूरा महसूस करता है वह 'प्रेम' जैसी नितान्त व्यक्तिगत भावना में पूर्णता को खोजने की ओर बढ़ता है। मुक्तिबोध भी नहीं समझ पाते हैं कि इस अज्ञात प्रणयिनी की चाह, यह गहरी वेदना स्नेह की वेदना क्यों जाग गई। ये आठ–दस पंक्तियाँ पूरी कविता के प्रवाह और कथ्य के बीच में अचानक आ गई लगती हैं। परन्तु इन्हीं के कारण मुक्तिबोध के मन्तव्य और उनके यथार्थ के विरोधाभास का आभास मिलता है। मुक्तिबोध की मुक्ति तो उनकी 'अनिवार आत्म संभवा परम अभिव्यक्ति है।' जिसके स्वरूप का कुछ अंदाजा है उन्हें। बस अपनी वर्गीय स्थिति और संरचनात्मक अपूर्णताओं के कारण वे उसे पा नहीं पाते। जिसे वे सर्वत्र, सब जगह तलाशते हैं।

शमशेर बहादुर सिंह अज्ञेय के समकालीन कवि हैं। बावजूद इसके ये विचारधारा के स्तर पर अलग हैं। दोनों ही कवियों की कविताओं में अभाव, अवसाद, बेचैनी, अकेलापन, छटपटाहट, अपूर्णता का स्वर बार–बार उभरता है। क्या कारण है कि एक कवि या लेखक सृजनधर्मी होते हुए भी अपने को अकेला पाता है? अपनी कविताओं में उपरोक्त की भिन्न–भिन्न सूरतें गढ़ता है। उसके अन्दर इतनी बेचैनी, अकेलेपन और अपूर्णता की छटपटाहट क्यों है? दरअसल कोई भी कवि जब एक अनवरत सन्नाटे से गुजरता है तब उसकी चेतना में अनेक सवाल कौंधते हैं। कभी–कभी वह उन सवालों के जवाबों के करीब पहुँचता है तो कई बार भटकाव की स्थिति में असहजता भी पाता है या उसे अपनी अपूर्णता का आभास होने लगता है। शमशेर अपनी वैयक्तिक अपूर्णता के दायरे से बाहर आकर समष्टिगत अपूर्णताओं के संरचनात्मक ढांचे को समझने और उन्हें दूर कर सकने की उपायों में अपनी चेतना को लगाना चाहते हैं। फिर भी शमशेर जैसे मार्क्सवादी कवि को कहना पड़ता है–

"मैंने कितने किए उपाय, किन्तु न मुझसे छूटा प्रेम"[49]

शमशेर सघन प्रेम के कवि हैं। इनके काव्य में प्रेम की सघनता का आलम यह है कि ये प्रेमिका को हर वक्त अपने में बसा लेना चाहते हैं–

"आओ
किन्तु मुझमें बसकर
सुगंध की तरह
मेरे साथ
मैं हवा की तरह अदृश्य जब हो जाऊँ
जहाँ कहीं भी जाओ"[50]

शमशेर प्रिय की याद में एक पल भी गँवाना नहीं चाहते। वह उसमें हवा की तरह अदृश्य होना चाहते हैं। वह सदैव उसकी अनुभूति में ही रहना पसंद करते हैं। इसलिए प्रेम में मुक्त रहने की कला शमशेर को नहीं आती। उनके यहाँ प्रेम में मुक्ति का वही रूप नहीं जो अज्ञेय के यहाँ है। जबकि अज्ञेय एक ऐसे आधुनिक प्रेमी हैं जो प्रेम जैसे संवेदनशील विषय में भी मुक्ति की वकालत करते हैं। दरअसल प्रेम में मुक्ति की बात करना, प्रेम से भागना नहीं है बल्कि प्रेम की परिधि को और अधिक व्यापक बनाना है। प्रेमी और प्रिय के सम्बन्धों में खुलेपन की मांग करना हैं। यह सांसारिक प्रेम के बदलते परिदृश्य की कड़ी में एक छोटी–सा रूप है। अज्ञेय का कहना है, "तुम्हें जो प्यार करता हूँ उसे मैं समग्र विश्व को देता हूँ–दे देता हूँ। मेरे कर्म व्यापार तुम्हारे साथ मुझे बाँधते हैं, लेकिन उन्हें समग्र को दे देकर मैं मुक्त होता हूँ। न तुमसे मुक्त, न अपने से मुक्त, न विश्व से मुक्त, तुममें मुक्त, अपने में मुक्त समग्र में मुक्त। यह मुक्त होना ही एकात्म होना है, नहीं तो प्यार की सघनतम पीड़ा में भी द्वैत से मुक्ति नहीं मिलती।"[51] कवि प्रेम में एक ओर प्रिय के साथ रहता है, एक अदृश्य बंधन में बंधे रहने की स्वीकृति का बोध करता है वहीं दूसरी ओर उस प्रेम को समग्र में देकर मुक्त होने की कोशिश करता है बावजूद इसके उससे मुक्ति कहाँ मिलती है? यह एक ऐसी प्रक्रिया है

जिसमें द्वैध भाव से मुक्ति नहीं है। लेकिन इस प्रक्रिया से गुजरना ही प्रेम की परिधि को व्यापक बनाना है। अज्ञेय के प्रेम में इस तरह की सूरत बार–बार उभरती है। बावजूद इसके अज्ञेय प्रेम में कभी एकात्म नहीं हो सकते अर्थात् वह अपने को कभी भुला नहीं सकते। शमशेर में यही बात अज्ञेय के विपरीत जाती है। वह स्वयं का विलय कर देते हैं।

शमशेर की कविता में दुःख, अवसाद और बेचैनी का संसार पसरा हुआ है। बचपन में माँ की मृत्यु, पिता के दूसरे विवाह करने के बाद सौतेली माँ का उपेक्षित व्यवहार, विवाह के बाद असमय ही पत्नी का गुजर जाना और दूसरा विवाह न करने की जिद ने शमशेर के जीवन में बेरुखी के रंगों को भर दिया। उनको हँसता–खेलता हुआ जीवन नसीब नहीं हुआ। उनके जीवन में उल्लास की जगह अकेलापन था। इसलिए उनकी कविताओं में दुःख, अवसाद और पीड़ा बार–बार उभरती है। शमशेर जब अकेलेपन से बेहाल होते हैं तो वह तड़प उठते हैं। इस तड़प में ही वह उससे मुक्त होने की कोशिश करते हैं–

"दर्द की गर्दिश यकायक सांस के तूफान में गोया
छिपी हुई हाय–हाय में
सुकून की तलाश"[52]

कवि एक पल के सुकून को खोजता है लेकिन वह उसे नसीब नहीं। इसलिए वह अपनी वर्तमान परिस्थिति से मुक्त होने की कोशिश करता है। कवि की यह मुक्ति उस जैसे अनेक लोगों की भी है, जो उसके जैसे हालातों से गुजर रहे हैं।

शमशेर की कविता जब एक ऊँचाई या मुकाम को छूती है तब वह वर्जनाओं से मुक्त हो जाती है। उनकी अभिव्यक्ति का स्वर बदल जाता है। उसमें कवि के विनम्र आग्रह की छाया निरंतर बनी रहती है।

"हाँ तुम मुझसे प्रेम करो
जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं
जिसमें वह फंसने नहीं आती
जैसे हवा मेरे सीने से करती है।"[53]

यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि मछलियाँ लहरों के बीच रहती हैं लेकिन उसमें रहते हुए भी मुक्त रहती हैं। उनमें फंसती नहीं। हवा सीने से स्पर्श करती है फिर भी मुक्त विचरण करती है। यह मुक्त रहना ही उनकी निजता को नहीं खोने देता।

शमशेर की कविता स्त्री देह पर कुछ ज्यादा ही जोर देती है। उनकी कविताओं में स्त्री देह के भिन्न–भिन्न बिम्ब मिलते हैं। बावजूद इसके शमशेर की कविता में देह से विदेह हो जाने की कामना है। यह विदेह होना ही देह से मुक्ति ही तो है। कवि कहीं भी देह को पाने की उत्कट लालसा नहीं करता अपितु वह जगह–जगह देह के सौन्दर्य को रचता है। उसकी विभिन्न सूरतें गढ़ता है। शमशेर कहते हैं–

"यह पूरा
कोमल काँसे में ढला
गोलाइयों का आईना
मेरे सीने से कसकर भी
आजाद है।"[54]

एक अन्य कविता 'मॉडल और आर्टिस्ट' में एक कलाकार को अपनी सीमा का भान होने लगता है। वह जिस दैहिक सौन्दर्य को गढ़ता है वह परिवर्तनीय है। शमशेर उस समय देह की सत्ता का अतिक्रमण करते हैं और दृश्यमान सत्ता के पार चले जाते हैं। दरअसल शमशेर की कविता में जो दैहिक अपूर्णता है, उसकी पूर्ति के लिए वे स्वयं को वृहत्तर अनुभूति से जोड़ते है। कवि देह के आवरण को रूपार्थ का आवरण मानता है और उससे आगे चला जाता है।

शमशेर की कविता स्थानीयता या भौगोलिक सीमा के संकुचित दायरे से मुक्त है। यही कारण है कि 'अमन का राग' जैसी कविता में कवि एक साथ साहित्य, कला, संगीत की अंतर्राष्ट्रीय दूरी को ख़त्म कर सभी को एक मंच पर ले आता है। वह सभी कला माध्यमों को प्रेम और शांन्ति के पक्ष में दिया गया सबसे सुन्दर वक्तव्य मानता है। वह शेक्सपियर, कालिदास, तुलसी, ग़ालिब, फैयाज खां, टैगोर, प्रेमचंद, गोर्की, टॉलस्टॉय, और निराला को एक ही आँगन में खड़ा पता है। इस तरह शमशेर स्थानीयता से मुक्त पूरब–पश्चिमों को एक मानते हैं। उनके हृदय में सभी की कला का संगीत बसता है। यह एक इंसानियत से लबरेज व्यक्ति को पैदा करने की अद्‌भुत कोशिश है।

सम्प्रेषण का प्रश्न शमशेर और अज्ञेय दोनों के सामने उपस्थित होता है। अपने अनुभूत के लिए अभिव्यक्ति की प्रणाली न मिल पाने पर शमशेर माध्यम के पार जाने की चाह व्यक्त करते हैं तो अज्ञेय परम्परा की भिन्न–भिन्न सरणियों का अवगाहन करते हुए उसमें से ही मार्ग ढूँढने का प्रयत्न करते हैं। 'आज तुम शब्द न दो' कविता इसी सम्प्रेषणगत प्रश्न के संभाव्य उत्तर की तलाश है।

अज्ञेय के प्रेम में 'अहं' प्रबल है। वह प्रिय से प्यार के इजहार में भी खुद को कभी नहीं भूलते। वह कहते हैं "जिओ उस प्यार में जो मैंने तुम्हें दिया है।"[55] अज्ञेय के काव्य में प्यार में भी देने का दर्प है। इसे अज्ञेय का अहम् कहें या अपने को ऊपर रखने की जिद। दरअसल अज्ञेय का स्वभाव ही ऐसा है जिसमें दाता का भाव प्रबल है। बावजूद इसके उनकी कुछ कविताओं में अहम् से मुक्ति का स्वर दृष्टिगोचर होता है वहाँ कविता उपदेश देने लगती है–

"नहीं तो और क्या है प्यार
सिवा यों
अपनी ही हार का अमोघ दांव किसी को सिखाने के

किसी के आगे

चरम रूप से वेध्य जाने के?"[56]

कवि के हृदय में वेध्य हो जाने का डर भी बना रहता है। इसलिए प्रेम में उस पूर्णता को प्राप्त नही कर पाता जिसमें दो प्रेमी और प्रेमिका अपने स्वयं का विलय कर देते हैं। अज्ञेय की कविताओं में यह बेचैनी बराबर देखने को मिलती है।

जबकि शमशेर प्रेम के मामले में ज्यादा तादात्म्यगत अनुभूति को प्राप्त करते हैं। वह प्रेम की अपूर्णता से मुक्त होने की हर संभव कोशिश करते हैं और स्वयं का विलय कर देते हैं। जबकि अज्ञेय को स्वयं का विलय करने की कला नहीं आती। शमशेर की कविताओं में प्रेम को पाने का विनम्र आग्रह, एक पुकार बराबर बनी रहती है। वह प्रेम में कितने सफल हुए यह उनको नहीं पता। पूर्णता कोई मात्रा नहीं जिसे मापा जा सके। यह व्यक्ति के अन्दर एक आनुभूतिक आभास से ही संभव है। जो एक पल में है और दूसरे पल में नहीं है। इन्हीं पल को पाने के लिए व्यक्ति कर्म पर कर्म करता है लेकिन वह कब सफल होगा इसकी पूर्णता का उसे निश्चित ज्ञान नहीं।

अपूर्णता का ज्ञान ही व्यक्ति को कर्म के लिए प्ररित करता है। अज्ञेय जब कहते हैं " फूल से प्यार करो, झरे तो झर जाने दो।"[57] व्यक्ति का जीवन क्षणभंगुर है। मृत्यु अटल है। परन्तु अज्ञेय प्रेम की अनुभूति के माध्यम से 'मृत्यु भय' से पार चले जाते हैं। जबकि शमशेर कहते हैं " ओ फूल की पंखुड़ी, फिर फूल में लग जा।"[58] शमशेर के काव्य में जीवन की चाह गहरी है। शमशेर के यहाँ टूटते हुए जीवन में भी पूर्णता का आग्रह प्रबल है। अतः शमशेर की कविता में अपूर्णता, बेचैनी, अभाव, छटपटाहट तो है लेकिन मुक्ति का जो रूप अज्ञेय के काव्य में उभरता है वैसा कोई मुकम्मल विजन नहीं है। उनमें obsession अधिक है।

संदर्भ सूची

[1] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–2), पृ॰सं॰, 128, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[2] डॉ॰ राजबली पाण्डेय (सं॰), हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (भाग–1), पृ॰सं॰ 188, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं॰ 2014 वि॰।

[3] वही, पृ॰सं॰ 192।

[4] डॉ॰ राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन (भाग–1) (अनु॰– नन्द किशोर गोभिल 'विद्यालंकार'), पृ॰सं॰ 165, राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली, 1973, तीसरा संस्करण।

[5] वही, पृ॰सं॰ 164।

[6] Jaideva Singh, Pratyabhijnahdayam, Page No. 1, Motilal Banarsidass Publishers Delhi, 1982, Fourth Revised Edition.

[7] डॉ॰ राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन (भाग–1) (अनु॰– नन्द किशोर गोभिल 'विद्यालंकार'), पृ॰सं॰ 126, राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली, 1973, तीसरा संस्करण।

[8] केनोपनिषद, पृ॰सं॰ 11, गीताप्रेस गोरखपुर, सं॰ 2069, उनतीसवां पुनमुर्द्रण।

[9] डॉ॰ राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन (भाग–1) (अनु॰– नन्द किशोर गोभिल 'विद्यालंकार'), पृ॰सं॰ 134, राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली, 1973, तीसरा संस्करण।

[10] राधावल्लभ त्रिपाठी, आदिकवि वाल्मीकि, पृ॰सं॰ 20, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[11] वही, पृ॰ सं॰ 25–26।

[12] वही, पृ॰ सं॰ 29।

[13] वही, पृ॰ सं॰ 28।

[14] वही।

[15] वही, पृ॰ सं॰ 30।

[16] वही ।

[17] विद्यानिवास मिश्र, देश, धर्म और साहित्य, पृ॰सं॰ 23, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 1992, प्रथम संस्करण।

[18] वही, पृ॰ सं॰ 24।

[19] श्रीमद्भगवतगीता, अध्याय 4 – श्लोक 16, गीताप्रेस गोरखपुर, सं॰ 2049, चौतीसवां संस्करण।

[20] वही, अध्याय 12 – श्लोक 12।

[21] धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ॰सं॰ 84, लोकभारती प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, प्रथम संस्करण।

[22] वही, पृ॰सं॰ 85।

[23] वही, पृ॰ सं॰ 86।

[24] वही, पृ॰ सं॰ 93।

[25] परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्य, पृ॰सं॰ 108, किताब महल इलाहाबाद, 1952, प्रथम संस्करण।

[26] वही।

[27] वही, पृ॰सं॰12।

[28] वही, पृ॰ सं॰ 108।

[29] वही।

[30] विजयदेव नारायण साही, जायसी : हिन्दी के पहले विधिवत् वरिष्ठ कवि, जायसी ग्रन्थावली (सं॰– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृ॰सं॰ VI, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, आवृत्ति संस्करण।

[31] मलिक मुहम्मद जायसी, पद्मावत (सं॰– वासुदेव शरण अग्रवाल), पृ॰सं॰ 41, साहित्य सदन झांसी, 2002 संस्करण।

[32] वही, पृ॰सं॰ 50।

[33] वही, पृ॰सं॰ 23।

[34] वही, पृ॰सं॰ 713।

[35] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ॰सं॰ 130–131, मलिक एण्ड कम्पनी जयपुर, 2009 संस्करण।

[36] सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद सं॰ 97।

[37] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, महाकवि सूरदास, पृ॰सं॰ 128–129, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, तीसरी आवृत्ति।

[38] रामदत्त भारद्वाज, तत्त्व चिन्तन, तुलसी (सं॰– उदयभानु सिंह), पृ॰सं॰ 181, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 2014, दूसरा संस्करण।

[39] वही।

[40] गजानन माधव 'मुक्तिबोध', प्रतिनिधि कविताएं, पृ॰सं॰ 128–129, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1991, चौथा संस्करण।

[41] वही, पृ॰ सं॰ 122।

[42] वही, पृ॰ सं॰ 125।

[43] वही, पृ॰ सं॰ 126।

[44] वही, पृ॰ सं॰ 131।

[45] वही, पृ॰ सं॰ 165।

[46] वही, पृ॰ सं॰ 161।

[47] वही, पृ॰ सं॰ 171।

[48] वही, पृ॰ सं॰ 169।

[49] शमशेर बहादुर सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ॰सं॰ 15, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2013, छठी आवृत्ति।

[50] काल तुझसे होड़ है मेरी–शमशेर बहादुर सिंह, पृ॰सं॰ 15, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 1988, प्रथम संस्करण।

[51] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग 9), पृ॰सं॰ 241, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[52] कुछ कविताएँ व कुछ और कविताएँ– शमशेर बहादुर सिंह, पृ॰सं॰ 66, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004 दूसरी आवर्ती।

[53] वही, पृ॰सं॰ 133।

[54] काल तुझसे होड़ है मेरी–शमशेर बहादुर सिंह, पृ॰सं॰ 100, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 1988, प्रथम संस्करण।

[55] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग 1), पृ॰सं॰ 378, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[56] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग 2), पृ॰सं॰ 228, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014,

[57] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग 1), पृ॰सं॰ 320, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[58] शमशेर बहादुर सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ, पृ॰सं॰ 120, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2013, छठी आवृत्ति।

अध्याय–तीन

अज्ञेय का मुक्ति सम्बन्धी चिन्तन

3.1 प्रस्तावना

अज्ञेय ने 'स्रोत और सेतु' संग्रह के पहले ही निबन्ध 'मेरी स्वाधीनता : सबकी स्वाधीनता' में अपने इंग्लैण्ड प्रवास का एक किस्सा बयान किया है और इस क़िस्से के प्रतीकार्थ से स्वाधीनता संबंधी अपनी अवधारणात्मक उपलब्धि के एक आयाम को सामने रखा है। अज्ञेय बताते है कि वे इंग्लैण्ड के एक उद्यान में घूम रहे थे, जहां सर्वत्र हरियाली के बीच उन्हें अचानक एक महाकाय वृक्ष दिखायी दिया। उस पेड़ को देखने से अपने भीतर पैदा हुई अनुभूति के विषय में वे लिखते हैं, ''महज एक पेड़, लेकिन 'खुले में खड़ा पेड़' देखकर मुझे एक अद्‌भुत प्रतीति हुई। उस बोध से मुझे रोमांच हो आया। उससे पहले मैंने ऐसा पेड़ कभी नहीं देखा था–एक पेड़ जो बिना किसी बाधा, बिना किसी क्षति के अपने सम्पूर्ण परिपक्व विकास चोटी तक पहुंचा हो। इस वृक्ष की डालियों और फुनगियों को उसकी किशोरावस्था में गाय बकरियों ने कुतरा नहीं था, उसकी डालियों से भोर के सैलानियों ने दंतवने नहीं बनायी थीं, लकड़हारों ने ईधन के लिए उसकी डालें नहीं काटी थीं, न ही सड़क या बिजली मजदूरों ने सड़क को सीधा या बिजली के तारों के बचाव के लिए उसकी कपाल–क्रिया की थी... एक पेड़–केवल एक पेड़–लेकिन उसे वह आकार पा लेने दिया गया था जो प्रकृति ने उसके लिए आयोजित किया था– एक वृक्ष जो अपने आत्यन्तिक वृक्षत्व की चरम संभावनाओं को प्राप्त कर चुका था।''[1]

इस पेड़ को देखकर अज्ञेय के मन में स्वाधीनता से जुड़े कुछ विचार सूत्र उमड़ने लगे–स्वाधीन विकास, स्वाधीनता में विकास, स्वाधीनता की ओर विकास, अपनी चरम सम्भावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि। संभावनाओं की चरम उपलब्धि को समझने में अज्ञेय को समय नहीं लगा और रूपक की भाषा में ही उन्होंने बता दिया

कि किसी भी बाहरी अवरोध के न होने के कारण वह पेड़ अपनी सम्पूर्णता को पा सका। इसी के साथ अज्ञेय का ध्यान उन पेड़ों की ओर गया, जिन्हें ये अनवरोध प्राप्त नहीं हुआ। वे लिखते हैं– ''उस महावृक्ष का वाहन होने का एक अर्थ यह भी है कि उसके बोध के साथ–साथ उन असंख्य बौने और बुच्चे पेड़ों के जंगल का भी एक बोध भीतर धधक उठता है और छटपटाहट पैदा करता है जिनसे हम निरन्तर घिरे रहते हैं, जिन्हें निरन्तर अपने आस–पास देखते हुए हर कोई अपने से ही यह पूछने को लाचार हो जाता है, तब क्या मैं भी अपने को स्वाधीन मान सकता हूं? क्या कोई अकेला स्वाधीन हो सकता है? क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण संभावनाओं को ऐसे ही परिवेश में पा सकता है जिसमें दूसरे भी अपनी चरम संभावनाओं को पूरी तरह प्राप्त करने के लिए समान रूप से स्वाधीन हों।''[2]

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि अज्ञेय की यह चिन्ता राजनीतिशास्त्र की वह मौलिक चिन्ता है, जिसे स्वतंत्रता के विश्लेषण के सम्बन्ध में व्यक्त किया जाता है। 'Absence of restraint' यानी उन सारे अवरोधों को हटा दिया जाना जो व्यक्तित्व की संभावनाओं की चरम उपलब्धि में बाधक हैं। हेराल्ड जे॰ लास्की ने अपनी पुस्तक 'राजनीति का व्याकरण' में राज्य का यह परम कर्तव्य घोषित किया है कि राज्य ऐसा वातावरण विकसित करे जिसमें वे सारे अवरोध हटा दिये जायें जो व्यक्तित्व के चरम की उपलब्धि में बाधक हैं। अज्ञेय का स्वाधीनता संबंधी विश्लेषण भी इस विचार के साम्य में होने के कारण राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित लगता है। परन्तु अज्ञेय राजनीति स्वतंत्रता तक अपने को सीमित नहीं रखते। वे इससे आगे जाते हैं और स्वतंत्रता को ऐसे मूल्य के रूप में पाते हैं जो व्यक्तित्व के चरम विकास के साथ–साथ उसकी सार्थकता के प्रश्न से भी जुड़ जाता है। क्योंकि तब अज्ञेय के ही शब्दों में कहें तो ''स्वाधीनता एक ऐसा बोध मानो तपस्या की यंत्रणा बन जाता है, क्योंकि वह मानव समाज की समान स्वाधीनता के प्रयत्न की अनिवार्यता बन जाता है।''[3]

जहां राजनीतिक स्वतंत्रता व्यक्ति इकाई से दूसरे व्यक्ति ईकाई की स्वतंत्रता के हनन को रोकने के लिए बाध्यकारी नियमों, व्यवस्थाओं और संस्थाओं की अनिवार्यता की ओर अग्रसर होती है। वहीं अज्ञेय के लिए स्वाधीनता अस्तित्व की सार्थकता के लिए आहूत चुनौती है। इस शर्त के अनुसार स्वाधीन वह है– ''जो दूसरे की स्वाधीता के लिए अपनी स्वाधीनता का बलिदान करने को प्रस्तुत है। स्वाधीनता की सच्ची कसौटी 'मैं' नहीं 'ममेतर' है। ममेतर के दर्पण में ही मुझे मेरी अस्मिता का सच्चा प्रतिबिम्ब दिख सकता है।''[4] राजनीतिक स्वतंत्रता बाध्यकारी नियमों व्यवस्थाओं और संस्थाओं से आगे जाकर सर्वाइवल के लिए सकारात्मक कदम भी उठाती है; जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन (रीक्रीयेशन), पर्यावरण–रक्षा आदि शामिल हैं। लेकिन इसकी सारी चिन्ता सर्वाइवल को ही उत्कृष्ट रूप में उपलब्ध करा देने की होती है। अस्तित्व के सार्थकता के प्रश्न पर सोचना या उसके लिए प्रेरित करना राजनीतिक स्वतंत्रता का क्षेत्र नहीं है। हां, ऐसे चिन्तन के लिए सर्वाइल का उत्कृष्ट रूप में उपलब्ध होना प्राथमिक शर्त जरूर है। अज्ञेय की चिन्ता इस सर्वाइवल के प्रश्न से आगे की चिन्ता है। इसीलिए वे 'स्वतंत्रता' से आगे बढ़कर 'मुक्ति' के क्षेत्र में पहुंच पाते हैं। अज्ञेय ने 'अकेली यात्रा की देहरी पर' निबंध में इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है– ''और मैं जोर देकर कहना चाहता हूं कि यह मूल्य मानव का सिरजा हुआ मूल्य है। मानव भी मरणधर्मा है, पर वह इस बात को जानता भी है जबकि दूसरे जीव नहीं जानते, इसलिए वह ऐसे मूल्यों की अवधारणा और सृष्टि कर सकता है जो मरणातीत हैं– अमर है। मरणशील मानव निरन्तर 'अमर' मूल्यों की सृष्टि करता चलता हैः ऐसे 'सनातन' मूल्य जिनके लिए प्राण भी देने पड़ें तो इसे वह अपनी पराजय नहीं, अपनी विजय मानता है। स्पष्ट ही एक विरोधाभास यहां पर है। हमारा जीना उन चीजों से सार्थक मूल्यवान 'वर्थ–ह्वाइटल' है जिनके लिए हम मर जाने को तैयार है। लेकिन वे ही मूल्य हैं– वे सनातन मूल्य हैं, इसके बावजूद कि वे समय–समय पर या देश–देश में, समाज–समाज में बदलते रहे हैं! मानव ही मूल्यों का स्रोत और स्रष्टा है। और मानव–जीवन की अर्थवत्ता की उसकी अमरता की–पहचान है उस 'कुछ' की

पहचान और पकड़ जिसके लिए वह जीवन बलि भी दिया जा सकता है। जितनी और जैसी सही और मजबूत यह पहचान हममें होती है, उतना ही हमारा जीवन समृद्ध होता है, चाहे जिस भी अवस्था में हम हों, उतना ही हमारा एकान्त साक्षात्कार भरा–पूरा और हमें सबसे जोड़ने वाला होता है, चाहे कितने ही अकेले हम हों!''[5]

अज्ञेय में यह पहचान बनी 'उत्सर्ग हो जाने' के रूप में। जिस व्यक्ति ने अपनी किशोरावस्था में मृत्यु की आसन्नता की अनुभूति का साक्षात्कार किया हो उसके लिए सार्थकता का प्रश्न सबसे बड़ा प्रश्न बन ही जायेगा। अज्ञेय ने अवलोकितेश्वर की कथा का जिक्र किया है। वे लिखते हैं, ''गौतम बुद्ध के जीवन से मेरा परिचय बहुत जल्दी हो गया था बुद्ध से, तथागत से, महाभिनिष्यक्रमण की देहरी पार करके निकल जाने वाले उस ज्योति पुरूष से। उस बोधिसत्व की कथा कई वर्ष बाद सुनी जिसने मानव मात्र की मुक्ति के लिए स्वयं अपनी मुक्ति का उत्सर्ग कर दिया था। और यह तो इसके भी कुछ वर्ष बाद समझ में आया कि यह उत्सर्ग ही सच्चा और एक मात्र स्वाधीन कर्म है।''[6] अज्ञेय ने अपने एकांत क्षणों में इस मूल्य को उपलब्ध किया है। उनका जीवन भी इस बात को प्रदर्शित करता है। पर उस समय उनके सामने एक दूसरा प्रश्न उठ खड़ा हुआ था–'करुणा' का। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर में इसे वे एक झंझट के रूप में देखते थे। सैनिक के लिए करुणा व्यामोह की स्थिति है। परन्तु उन्होंने पाया कि हर स्वाधीन योद्धा के लिए करुणा अनिवार्य है, क्योंकि करुणाहीन योद्धा आततायी हो सकता है। दूसरे की मुक्ति के लिए स्वयं को उत्सर्ग कर देने के मूल्य में सबकी स्वाधीनता को देखने वाले अज्ञेय अपने युवाकाल में क्रांतिकारी गतिविधियों से जुड़े, परिणामस्वरूप मृत्यु की आसन्नता का अनुभव उन्हें हुआ। इसके बाद भी उन्होंने भारत के पूर्वी फ्रंट पर जापानी–नाज़ी फौजों के खिलाफ सैनिक जीवन बिताया। यह कनविक्शन ही अज्ञेय के अस्तित्व का प्रमाण है।

वरण की स्वतंत्रता की सर्वाधिक चर्चा अस्तित्वाद के संदर्भ में की गई है। पर वहां भी दो धाराएं है– आस्तिक और निरीश्वर अस्तित्ववाद। अमूमन अज्ञेय को इस वरण की स्वाधीनता पर बल देने के कारण सार्त्र के साथ जोड़ा जाता है। ये ठीक है कि सार्त्र किसी भी सिद्धान्त या नुकते को चाहे वह तर्कबुद्धिवाद की प्रणालियों से पैदा हुआ हो या धर्ममत यानी ईसाईयत द्वारा प्रदत्त हो, किसी भी निर्णय या वरण के किए अनुपयोगी मानते हैं। मनुष्य चुनाव की घडियों में नितान्त अकेला होता है और कोई भी प्रत्यय चुनाव के विषय में उसकी कोई मदद नहीं कर सकता। इसलिए सार्त्र घोषणा करते हैं कि मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है। साथ ही सार्त्र ने इसमें यह भी जोड़ दिया कि लिए जा चुके निर्णय के value judgement का कोई आधार भी हमारे पास नहीं है। बस इतना भर सत्य है कि हर व्यक्ति अपने विवेक से लिए गए निर्णयों का परिणाम है और अपनी स्थिति के लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसके निर्णयों से अलग उसके होने का कोई उत्तरदायी नहीं है। अपने बाद के दिनों में सार्त्र ने इसमें इतना जोड़ दिया था कि हर वरण के समय मनुष्य के भीतर एक मनोव्यथा रहती है कि उसके द्वारा लिए गए निर्णय समूचे मानव जाति को प्रभावित करेंगे। ऐसी स्थिति में उसका चुनाव और कठिन हो जाता है पर जैसे ही वह अपने लिए कुछ निर्णय लेता है, वह उस मनोव्यथा से मुक्त हो जाता है।

पश्चिम में अस्तित्ववाद का आरम्भ तब हुआ, जब वह समाज मूल्यों के संकट से घिरा हुआ था। 'सभ्यता का संकट' लेख में अज्ञेय दिखाते हैं कि ऐसा मूल्यों का संकट भारत में आया ही नहीं और इसके प्रमाण के लिए वे हिन्दी साहित्य का उदाहरण देते हैं और उन लेखकों पर व्यंग्यात्मक प्रहार करते हैं, जिनका सारा लिखना इस उधार के मूल्य संकट से चालित है। अज्ञेय ने अस्तित्ववाद के विषय में अपनी राय रखी है कि ''एक अस्तित्ववादी चिन्तक की सूक्ति है 'Hell is other people' लेकिन उससे भी बड़ा सत्य यह है कि 'Freedom Is Other Pople 'क्योंकि व्यक्ति इकाई के अपनी स्वतंत्रता के दावे का कोई अर्थ नहीं रहा जाता, वह दावा तभी सार्थक होता है जब वह अपनी स्वतंत्रता का न होकर दूसरे की स्वतंत्रता का

हो। माँस की अपनी बोटी के लिए तो कुत्ता भी लड़ता है– कुत्ता नाम अवज्ञासूचक हो तो कह लीजिए कि सिंह भी लड़ता है, पर निरी जिजीविषा का यह सन्दर्भ स्वतंत्रता का नहीं है। दूसरे की स्वतंत्रता का आत्म–चेतन दावा ही स्वतंत्रता का वास्तविक दावा है। इस दूसरे के मुकुर में ही व्यक्ति अपनी अस्मिता को पहचान सकता है। 'मैं' के अधिकार का दावा तो एक जैविक प्रेरणा है, ममेतर का दावा ही मनुष्यता की पहचान है।''[7] सार्त्र के विश्लेषण में मनुष्य वरण के लिए अभिशप्त है, क्योंकि वह अकेला है। जबकि ईसाई अस्तित्वाद में भी वरण और 'अंधेरे में छलांग' लगाने का जिक्र है। लेकिन यह छलांक मनुष्य को ईश्वर की गोद में ले जाती है। यानी तर्कबुद्धिवाद में कोई संभाव्य सूरत न देखकर मनुष्य को अपने और ईश्वर के बीच की गहरी खाई में छलांग लगानी पड़ती है। अज्ञेय ने स्वीकार किया है कि निरीश्वर अस्तित्ववाद को पढ़ते रहे हैं जैसे अन्य तमाम राजनीतिक–दार्शनिक सिद्धान्तों को, पर अगर वे प्रभावित है तो अस्तित्ववाद की उस धारा से जिसे ईसाई अस्तित्वाद कहते हैं। मनुष्य नितान्त अकेला होकर अपने आभ्यांतर की छलांग लगाता है और उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है। अज्ञेय ने 'अकेली यात्रा की देहरी पर' निबंध में दो उदारहण दिये हैं। एक गठियावात रोग से पीड़ित बूढ़ी महिला का और दूसरा एक जापानी मित्र का। दोनों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं, ''मेरी समझ में दोनों वैसे व्यक्तियों का उदारहण प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने एकांत साक्षात्कार में ऐसे तत्व को पहचाना जो जीवन को गुणात्मक समृद्धि देता है, जिन्होंने इस प्रकार यह आभ्यान्तर समृद्धि पायी जिसकी संभावना मैं आपके सामने रखना चाहता हूं। उस सम्पन्नता, उस समृद्धि का संबंध भौतिक साधनों से नहीं था, निरी शिक्षा से भी नहीं था। एक व्यक्ति अत्यंत निर्धन, बल्कि दरिद्र कह लीजिए, और निपट निरक्षर; दूसरा धन न सही, हर साधन–सम्पन्न और सुशिक्षित : दोनों ही ने वह शक्ति देने वाली आभ्यान्तर–सम्पन्नता पायी थी! वहा कहां से मिली या मिल सकती है? जहां से भी मिली, वह उन्हीं के भीतर से मिली, उन्हीं में कुछ था जिससे मिली, उसी की पहचान की बात है और वह पहचान अकेले में मिलती है।''[8]

'अपने से बड़ा' मूल्य जिसके लिए जीवन दिया जा सकता है। ये अलग करता है– अज्ञेय को सार्त्र से। अज्ञेय ने कहीं भी ईश्वर की सत्ता को स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया है। पर यदि अस्तित्ववाद के सन्दर्भ में अज्ञेय को समझना ही है तो अज्ञेय के 'अपने से बड़े' को कीर्केगार्द के ईश्वर के समकक्ष रखकर समझा जा सकता है, वो भी कीर्केगार्द की सीमाओं को समझते हुये। कीर्केगार्द ईसाई परिवार में पैदा हुआ था और उसका युग तर्कबुद्धिवाद के प्रसरण का युग था। ऐसे में एक विचारशील व्यक्ति के लिए पुरानी रूढ़ अवधारणा के रूप में धर्म को स्वीकार करना बहुत कठिन हो सकता था। यही कीर्केगाई के साथ हुआ। उसने ईसाई धर्म की जड़ता का पूरी शक्ति से विरोध किया। और युग के दबाव के भीतर से अपने लिए आभ्यांतर के प्रमाण का रास्ता निकाला। ठीक है कि अज्ञेय की आत्म स्वीकृति है कि उनके लिए यदि कुछ प्रयोजनीय है तो निरीश्वर अस्तित्वाद में नहीं, बल्कि ईसाई अस्तित्वाद में। लेकिन अज्ञेय की बनावट में अस्तित्वाद से कहीं अधिक भारतीय परम्पराओं और चिन्तन का योगदान है। अज्ञेय किसी भी पश्चिमी चिन्तक से कहीं अधिक गांधी जी के करीब नजर आते हैं। अपने को उपलब्ध करने की प्रक्रिया में दोनों के बीच एक गहरा साम्य भी है। गांधी की जीवनी पढ़ने पर पता चलता है कि यूरोप प्रवास के दौरान एक समय ऐसा आया था कि उन्होंने ईसाईयत में धर्मान्तरण करने का निर्णय बना लिया था। ऐसा इसलिए नहीं था कि वहां उस मत में उन्हें अपनी शंकाओं के समाधान मिल रहे हों और इसलिए वे ऐसा कदम उठा रहे हों। बल्कि अपनी परम्पराओं में अपने प्रश्नों, शंकाओं और विश्वासों की प्रामाणिकता न खोज पाने के कारण गांधी ऐसा कदम उठा रहे थे। एक औपनिवेशिक मानस के मुक्त होने का गांधी से सटीक, सुन्दर और पूरा उदाहरण दूसरा नहीं है। अज्ञेय को भी जो मिला शुरू में वो सारा लगभग यूरोपीय चिन्तन ही था। बचपन में फारसी और संस्कृत पढ़ायी गई थी। अगर 'शेखरः एक जीवनी' को साक्ष्य स्वीकार करें तो पाणिनी के अष्टाध्यायी को बिना समझे लय और ताल के आकर्षण में रट गये थे। पर अज्ञेय जिस समय बनना शुरू हो रहे थे सब जगह बौद्धिक खुराक यूरोपीय चिन्तन से प्राप्त हो रही थी। टेनीसन के प्रभाव में अज्ञेय ने

लिखना शुरू किया था। आगे चल कर अज्ञेय ने भी अपने लिए भारतीयता को अर्जित किया। 'सभ्यता के संकट' में अज्ञेय लिखते हैं, ''पश्चिम हमसे ज्यादा समृद्ध है, आर्थिक दृष्टि से समृद्ध है, उसके पास धन ज्यादा है, पूंजी ज्यादा है, यन्त्र ज्यादा है। परन्तु यह जरूरी नहीं है कि उसकी सांस्कृतिक दृष्टि भी ज्यादा अच्छी हो ही।''[9] अज्ञेय की स्वतंत्रता संबंधी धारणा जिसमें अस्तित्व की सार्थकता का प्रश्न जुड़ा हुआ होने के कारण यह सदैव व्यक्ति इकाई से प्रारम्भ होती है। अपने होने की सार्थकता तलाश करते हुए अज्ञेय अपने परिवेश, अपने समाज और अंत में मानवता–मात्र के लिए अपनी सार्थक को उपलब्ध करते हैं। व्यक्ति इकाई से प्रारम्भ करने पर भी अज्ञेय स्वयं की मुक्ति को दूसरे के मुकुर में देखते हैं, इसीलिए वे व्यक्तिवादी होने से बच जाते हैं। बल्कि ममेतर को प्रतिमान के रूप में स्वीकार करके वे व्यक्तिवाद को विड़म्बनाओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

अज्ञेय ने मूल्य के चुनाव के विषय में सचेत भी किया है, ''मानव की जो परिकल्पना मैंने आपके सामने प्रस्तुत की, अगर वह संगत है या उचित है तो यह उससे सिद्ध होता ही है कि मानव पहला ऐसा प्राणी है– और अब तक एकमात्र प्राणी है– जो मूल्यों की सृष्टि करता है, जो ऐसे मूल्य भी रच सकता है जिनको वह अपने से बड़ा मानता है– ऐसे मूल्य जिनके लिए वह प्राण देना भी उचित समझता है। अब आप देखिए कि जीवन का आधार बनाकर यह मनुष्य स्वयं ऐसी चीज़ रचता है जिसको जीवन से बड़ा मानता है। और कोई जानवर या प्राणी ऐसा नहीं है जो जीवन से बड़ी किसी चीज़ को जानता है– सही या गलत। यह सवाल भी उठ सकता है कि अधिकतर ऐसे मानव मूल्य सिर्फ धोखा होते हैं– वह भी हो सकता है कि वे धोखा हों।''[10] वे आगे लिखते हैं– ''हम नहीं जानते कि वास्तव में वे मूल्य ऐसे हैं या नहीं जिनके लिए जीवन देना उचित होगा, लेकिन मनुष्य ऐसा मानता है और मनुष्य ने ही यह आविष्कार किया कि इस तरह की चीज़ होती है जिसके लिए जीवन दिया जा सकता है। इसको मैं संस्कृति की बुनियाद कहता हूं।''[11]

साथ ही अज्ञेय अपने चारों ऐसे लोगों को पाते हैं जो प्रश्न उठाते हैं ''पश्चिम में भी, पूर्व में भी–कि क्या मूल्य कुछ होते भी हैं? जिन चीजों को हम मूल्य मानते आये हैं क्या उनमें कोई सार भी है? क्या कोई भी ऐसी चीज़ है जिस पर विश्वास किया जा सकता है, जिस पर आस्था टिक सकती है? जिसमें श्रद्धा हो सकती है? या कि कुछ भी ऐसा नहीं है, सब धोखा है, आत्म–प्रवंचना है?''[12] ये प्रश्न अधिकतर अस्तित्ववादियों की ओर से उठाये जाते रहे हैं। यूरोप में ऐसी मानसिकता के पनपने का ठोस कारण रहा है। परन्तु जब अज्ञेय अपने समकालीनों को ऐसे द्वन्द्व में फंसा देखते हैं तो इसे आयातित और कृत्रिम चिन्ता मानते है। इस संकट के समाधान के लिए अज्ञेय निरवधि कालबोध के आधार, आत्मोत्सर्ग की स्वाधीनता के अधिकार और महत्करुणा का मिला–जुला दर्शन प्रस्तुत करते हैं। और इन सबके मूल में होता है ममेतर का विचार। ये पहचान की व्यक्ति इकाई की अकेली मुक्ति संभव नहीं है। वह उतना ही मुक्त है जितना वह दूसरों को मुक्त कर सकता है और अन्त में सबसे बड़ी शर्त कि अपनी मुक्ति उसी परिवेश में संभव है, जिसमें सभी की मुक्ति निहित है। ऐसे में उस परिवेश की उपलब्धि सबसे बड़ा प्रश्न बन जाती है और स्वाधीनता एक दायित्व की तरह हो जाती है।

जिन समाजों में अनास्था और मूल्य का संकट है, वहां मनुष्य का चरम लक्ष्य और चरम मूल्य 'सर्वाइवल' हो गया है। जीवन से बड़ा कुछ नहीं है, उसके लिए जो करना है वही करो, जैसे बच सको, जैसे जी सको, आराम पा सको, वही एक मात्र उद्देश्य है। मूल्यहीनता भेड़ चाल की तरह है। सर्वाइवल के चरम लक्ष्य बनते जाने के पीछे यह दृष्टिहीनता भी रहती है कि हर कोई यही कर रहा है– तो मेरे लिए भी यही है। मूल्यहीनता का यह सबसे बुरा दुष्परिणाम है। इसीलिए अज्ञेय, व्यक्ति ईकाई पर बल देते हैं और केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक अपने को सीमित नहीं रखते। व्यक्ति, समाज और व्यवस्था के विषय में विचार करते हुए वे लिखते हैं, ''स्वतंत्रता को एक मात्र राजनीतिक सन्दर्भ दे देने से भी हमारी स्वतंत्रता सीमित हुई है, उसको समझना भी कठिनतर हो गया है और उसकी रक्षा तो कठिनतर हो ही गई है। स्वतंत्रता राजनीति से उद्‌भूत नहीं होती बल्कि राजनीति

ही स्वतंत्रता के लक्ष्य से निरूपित होनी चाहिए। स्वतंत्रता की राजनीतिक परिभाषा केवल एक सम्भाव्य परिभाषा है। परिभाषा का एक दूसरा पक्ष आध्यात्मिक भी हो सकता है और एक तीसरा आधार सांस्कृतिक भी हो सकता है। मैंने कहा कि हम मुख्यतया राजनीतिक मुहावरे में सोचने के आदी हो गये हैं, लेकिन ऐसा नहीं है कि स्वातंत्र्य की दूसरे आधारों पर रची गई परिभाषा से हम बिल्कुल अपरिचित हो गए हों।''[13]

इस पूरे विश्लेषण के सन्दर्भ में देखने से पता चलता है कि कैसे अज्ञेय क्रमशः भारतीयता की उस आदर्शवादी धारणा के करीब आते चले जाते हैं जहां 'राजनीतिक बनाम आध्यात्मिक' का कोई तनाव न होकर मनुष्य की सृजनशीलता की रक्षा के किए उन प्रेरणाओं और आदर्शों को सदैव राजनीति के मार्गदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है जो मनुष्य के चरम को उसकी सार्थकता की उपलब्धि के रूप में देखता रहा है। विदुर नीति का एक श्लोक इस पूरे विमर्श को प्रत्यक्ष कर देता है–

''त्यजेद् कुलार्थे पुरूषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।''[14]

सारी संस्थाओं, नियमों और सिद्धान्तों को 'आत्म' की उपलब्धि से प्रमाणित होना ही चाहिए। नीतिकार ने पुरुष के ऊपर कुल को, कुल के ऊपर गांव को, गांव के ऊपर जनपद को वरीयता दी है। परन्तु जहां प्रश्न 'आत्म' का आ जाये तो उसके सम्मुख सारी पृथ्वी भी त्याज्य है। पुरुष, कुल, ग्राम और जनपद के बढ़ते क्रम में देंखे तो 'आत्म' कोई सांगठनिक इकाई नहीं है। बल्कि 'आत्म' सार्थकता का वह प्रतिमान है जो इन सांगठनिक इकाईयों को स्वरूप और निर्देशन देता रहता है। इसी को लक्ष्य करके अज्ञेय ने ऐसी राजनीतिक संभावना को गांधी में देखा ''महात्मा गांधी के जीवन–काल में उनके राजनीतिक आन्दोलन की कई प्रवृत्तियों का मैं कटु आलोचक भी रहा, लेकिन मैं समझता हूं कि जीवन के संपूर्ण राजनीतिकरण के संभाव्य दुष्परिणामों को गांधी जी अच्छी तरह समझते थे। इसलिए उनका

राजनीतिक चिंतन सदैव राजनीति को व्यापकतर धार्मिक और आध्यात्मिक संदर्भों से भी जोड़ता रहा''[15] यह संयोग से कहीं अधिक है कि मनुष्य के रचनात्मक आयाम पर दोनों ने बल दिया! बल्कि गांधी ने तो इन्हीं रचनात्मक कार्यों से अपने लिए आत्मविश्वास, ऊर्जा और रणनीति सभी कुछ पाया। अज्ञेय के सृजनशीलता के विचार को गांधी के रचनात्मक कार्यों के साथ देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि कैसे सृजनशीलता मनुष्य को और मनुष्य बनाकर उसे मुक्त करती है, मुक्ति के मार्ग दिखाती है। आजाद भारत के गांधी को खो देने का दुख अज्ञेय महसूस करते थे और उसे उन्होंने व्यक्त भी किया है। गांधी जहां अपने अनुभव के आधार पर भावुक तर्कों के माध्यम से अपनी बात कहते थे जिसमें तार्किकता से अधिक उनके कनविक्शन की ऊर्जा होती थी। अज्ञेय ने इन्हीं भावुक तर्कों को सिद्धान्तबद्ध किया है– ''एक और महत्वपूर्ण बात भी कहने की है : और वह 'वैज्ञानिक जानकारी' की स्वायत्तता से संबंध रखती है। जो भी जानकारी चेतना की इस प्रक्रिया का अंग और प्रतिफलन नहीं है, वह मानवीय प्रयोजनों में नहीं लगेगी, मानव के स्वातंत्र्य में योग नहीं देगी। असंभव नहीं बल्कि नितान्त सम्भाव्य है– कि वह उस स्वातन्त्र्य को खतरे में डालती रहे– क्योंकि आत्म प्रत्यभिज्ञा से रहित मानव उत्तरदायित्व–रहित मानव होता है।''[16] इसी तर्क को आगे बढ़ते हुए वे कहते हैं, ''विज्ञान में अगर कोई नैतिक प्रेरणा निहित नहीं है, तो वैज्ञानिक मानव पर भी कोई नैतिक दायित्व उसकी वैज्ञानिकता से नहीं आता : नैतिक मानव की अवधारणा कम–से–कम अभी तक की वैज्ञानिकता से तो सिद्ध नहीं है, और यांत्रिकता पर आधारित समाज–व्यवस्थाएं अभी तक अनैतिक ही नहीं, अमानवीय भी हैं।''[17]

अतः अज्ञेय के लिए मुक्ति का अर्थ ऐसी स्वतंत्रता है जो अपनी सार्थकता से प्रमाणित हो और इस सार्थकता को अज्ञेय वृहद मानवीय मूल्यों के सृजन और उनके लिए अपने आप को उत्सर्ग कर देने में देखते हैं। इस तरह वे व्यक्ति इकाई की सार्थकता से शुरू करके उसे समष्टि की सार्थकता में ही उपलब्ध हो पाने की अनिवार्यता का सूत्र स्थापित करते हैं।

3.2 सृजनशीलता और मुक्ति

अज्ञेय के चिन्तन का अधिकांश सृजन के सवालों से जुड़ा है। बल्कि उनकी कविताओं का भी बड़ा भाग भी इसी से जुड़ा है। सृजनशीलता के संबंध में उनके दो वक्तव्य दृष्टव्य हैं। कला को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं, ''कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरूद्ध विद्रोह है।''[18] इस सामाजिक अनुपयोगिता में अपर्याप्तता का बोध शामिल है। यानी हर कला चेष्टा पूर्णता की ओर बढ़ा एक कदम है। दूसरा वक्तव्य कविता और खुद के संबंध को लेकर है, ''मैंने कविता का उपयोग करना नहीं चाहा, क्योंकि मैंने नहीं माना कि मेरे उपयोग करना चाहने से वह उपयोगी होती है। मैं मानता हूं, वह तब उपयोगी होती है जब मैं स्वयं उपयोगी हूं, उसमें जीवन की पूर्णता तब है जब मैंने पूर्ण जीवन के प्रति अपने को समर्पित किया है। दुहाई देने से ही कविता नहीं निकलती।''[19] ये जरूरी नहीं है कि अपर्याप्तता के बोध से सदैव कला वस्तु ही जन्में। यह अपर्याप्तता बोध परास्त भी कर सकता है। अज्ञेय के सम्मुख इसका विकल्प यही है कि अपने को पूर्ण जीवन के प्रति समर्पित किया जाये। यह समर्पण ही अपूर्णता के बोध से परास्त नहीं होने देता और व्यक्ति रचनाशीलता के माध्यम से अपने को और अधिक उपलब्ध करता है।

मानव मरणशील है और इस बोध से अपनी रक्षा अपने से बड़ा कुछ बनाकर करता है। इस तरह मानव अपने से बड़े मूल्यों का स्रष्टा बन जाता है। इस स्वाधीन वरण के साथ सृजन दूसरे मूल्य के रूप में जुड़ जाता है। यानी स्वाधीनता के साथ सृजनशीलता के अवकाश की मांग भी उसमें सायुज्य भाव से नियुक्त है। यह प्रक्रिया जितनी आत्मिक पूर्णता देती है उतनी ही यह वाह्य स्वतंत्रता के लिए भी आवश्यक है।

रचना प्रक्रिया पर बल देना सृजनात्मकता को मूल्य के रूप में स्थापित करना अपने आप में मुक्त की ओर कदम बढ़ाना है। अज्ञेय के चिंतन और सृजन कर्म के अधिकांश का सृजनशीलता के सवाल से जुड़ा होना ऐसे राष्ट्र के बौद्धिक के रूप में

और भी प्रासंगिक लगता है जो राष्ट्र अपनी रचनाशीलता के भीतरी शक्ति के कारण पूरे विश्व में अपनी सानी न पता हो। पर औपनिवेशिक गुलामी के कारण पूर्णतया अपनी जीवनी शक्ति से डिगा दिया गया हो। ऐसे राष्ट्र की मुक्ति के लिए उसकी रचनाशीलता को पुनः प्राप्त करना अनिवार्य कर्म बन जाता है। अज्ञेय रचना शीलता के सवाल को जहां मनोवैज्ञानिक स्तर पर पूर्णता और सार्थकता की प्राप्ति के रूप में देखते हैं, वहीं भारत की वास्तविक मुक्ति के लिए अपने 'आलोचक राष्ट्र' की अवधारणा में समस्त भारतीय जन को सृजनशीलता से आबद्ध करना चाहते हैं। अज्ञेय को नेहरू युग के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। निर्मल वर्मा और राजेन्द्र यादव को अज्ञेय में नेहरू युग की भव्यता दिखायी पड़ती है। परंतु सर्जना और मुक्ति की पारस्परिकता के सम्बन्ध में अज्ञेय के विचार देखें तो उनका एप्रोच नेहरू के विपरीत और गांधी के करीब नजर आता है।

कुछ उदाहरणों के माध्यम से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। लंबे समय तक उपनिवेश रहे देश के लिए और भी आवश्यक हो जाता है कि इसके पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में इसके देशवासियों को उनकी रचनाशीलता को पुनः उपलब्ध कर सकने में सहायक साधनों और वातावरण का निर्माण किया जाता। परंतु हुआ उल्टा। जहां गांधी ने यंग इंडिया में स्पष्ट कहा था कि यदि मुझे एक दिन के लिए तानाशाह बना दिया जाए तो मैं वर्नाकुलर्स में पाठ्यपुस्तकों के छपने का इन्तेज़ार नहीं करूंगा। अपितु उसी दिन से शिक्षा को जनता की भाषा में दिये जाने का आदेश दे दूंगा। गांधीजी के मानस में यह बात स्पष्ट थी कि वह समाज जिसे बौद्धिक खुराक अपनी मातृभाषा में न मिले स्वतंत्रता की ओर बढ़ ही नहीं सकता। वही नेहरू जी की नीति भाषा के संदर्भ में जिस ढुलमुल किस्म की रही है, वह औपनिवेशिक गुलामी की निशानी है। शेखर एक जीवनी के प्रमाण पर कहें तो शेखर के पिता द्वारा पूछे जान पर कि वह लेखन–कर्म किस भाषा में करेगा। शेखर जवाब देता है, हिन्दी। उसके पिता इस निर्णय पर कहते हैं कि लेखन–कर्म के लिए ऐसी भाषा चुने कि यदि अर्थ लाभ न भी हो तो कम–से–कम यश लाभ तो हो। अज्ञेय को ओम निश्चल को दिये इंटरव्यू में स्वीकार करना पड़ा है कि अंग्रेजी माध्यम में मिली

शिक्षा के कारण उन पर यूरोपीय साहित्य का प्रभाव था, जिसे वे कहीं से गलत नहीं मानते। परन्तु अपने देश की आत्मा से प्रभाव ग्रहण करने के लिए उन्हें प्रयास करना पड़ा था, उसे अर्जित करना पड़ा था। अज्ञेय के 'आलोचक राष्ट्र' की धारणा यहां प्रासंगिक हो जाती है। सृजनशीलता मुक्ति का अनिवार्य हेतु है। एक औपनिवेशिक गुलामी से बाहर आये देश के लिए यह कितना जरूरी था कि उस समय ऐसी व्यवस्थाएं अपानायी जायें, जिससे साधारण भारतीय मानस अपनी रचनात्मकता को पहचान सके, उससे जुड़ सके। पर हुआ उल्टा ही। परिणाम आज स्पष्ट हैं– हम विश्व की सबसे बड़ी परचेजिंग पावर हैं। विश्व की जनसंख्या का इतना बड़ा भाग पर अपनी भीतरी सृजनधर्मिता से काट दिये जाने के कारण सबसे बड़ी परचेजिंग पावर मात्र बन कर रह गया है। जिस देश का सर्वसाधारण अपने दैनिक जीवन में हर किस्म की रचनात्मकता से जुड़ा हो। जो उसे परम्परा से स्वतः प्राप्त हो। वह राष्ट्र स्वच्छता जैसे ग्लोबल इंडैक्स पर भी सबसे पीछे खड़ा हो इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी।

अज्ञेय ये विडम्बना पहचान रहे थे। 'स्रोत और सेतु' अज्ञेय के भाषणों का संग्रह हैं जो महाविद्यालयों के दीक्षांत समारोहों पर दिए गए हैं, इन भाषणों में अज्ञेय स्वाधीनता और सर्जनशीलता के सवाल को प्रासंगिकता के साथ जोड़कर छात्रों के सामने प्रस्तुत करते हैं। प्रासंगिकता या प्रयोजनशीलता का विवेक सार्थकता और सर्जनशीलता के मूल्य के साथ अनिवार्यतया जुड़ा है। इस संबंध में एक और उदाहरण लेते हैं।

गांधीजी ने वर्धा में ऐसे घर का निर्माण स्वयं किया, जिसके लिए उन्होंने तीन शर्तें रखी थीं। तीनों ही सृजनशील व्यक्तित्व की रीढ़– पहला घर के हर कोने में प्रकाश और हवा पहुंचनी चाहिए। दूसरा निर्माण में सारी सामग्री स्थानीय होनी चाहिए। तीसरा पूरे निर्माण की लागत पांच सौ रूपये से अधिक नहीं आनी चाहिए। गांधी–साहित्य के साक्ष्य पर कहें तो किसी भी आर्किटेक्ट द्वारा ऐसी शर्तों के साथ

घर न बना पाने की सूरत में गांधी जी ने ये सारी शर्ते पूरी करते हुए खुद से घर बनाया और एक रूपया बचा लिया।

इस उद्धरण में अज्ञेय का 'आलोचक राष्ट्र' अपने पूरे अर्थ संदर्भों को पा लेता है। राष्ट्र के संदर्भ में व्यक्ति इकाई को सृजनशील बनाकर उपनिवेश से तत्काल मुक्त हुये राष्ट्र को अपना सही व्यक्तित्व पाने में कितनी सहायता होती यह भी इस उद्धरण में स्पष्टतः दिख जाता है।

व्यक्ति, समाज और व्यवस्था के परस्पर संबंध की व्याख्या करने के प्रसंग में अज्ञेय ने गांधी के विषय में लिखा है– ''जिन लोगों की राजनीतिक शिक्षा–दीक्षा पश्चिम में हुई थी, या पश्चिम के एकान्तिक राजनीतिक मुहावरे में ढ़ली थी, भारतीय होने पर भी उन्हें गांधी जी का राजनीतिक चिन्तन समझने में कठिनाई होती थी। और जो पश्चिम के राजनीतिज्ञ और शासनाधिकारी थे उन्हें तो और भी अधिक कठिनाई और झुंझलाहट होना स्वाभाविक ही था। विदेशी शासनाधिकारी के लिए नहीं, विदेशी राजनीतिवेत्ता के लिए भी गांधी जी एक 'स्लिपरी कस्टमर' थे– एक के लिए इस कारण कि गांधी जी का राजनीतिक कर्म उसके कानून की पकड़ में नहीं आता था, और दूसरे के लिए इस कारण कि उनका राजनीति–दर्शन उसके हाथ से फिसल जाता था। लेकिन यह गांधी जी के राजनैतिक कर्म की या उनके दर्शन की दुर्बलता नहीं थी बल्कि यह उसका बल था। बहुत–से बौद्धिक गांधी जी को प्रबुद्ध–चेता नहीं मानते थे और कुछ उनके दर्शन की प्रेरक जीवन्तता का एक कारण यह भी था कि उन्होंने अपने को शुद्ध राजनीति के मुहावरे में कभी नहीं बांधा, कभी नहीं बंधने दिया, और निरे राजनीति–विशारद को कभी यह सुविधा नहीं दी कि उनके विचार–दर्शन का मूल्यांकन केवल राजनितिक प्रतिमानों के आधार पर किया जा सके।''[20]

इस सारे विश्लेषण का प्रयोजन अज्ञेय के चिन्तन में सृजनशील मानव की रूपरेखा को प्रस्तुत करना है जो अपनी प्रकृति में गांधी के चिन्तन के बहुत करीब है। आज जब उत्तर–औपनिवेशिक संदर्भों में शक्ति और मुक्ति के प्रश्नों को टटोला

जा रहा है जो पूरे विश्व के ज्ञानकाण्डीय वर्चस्व को तोड़ने का प्रयास है। भारतीय राजनीति में गांधी जहां इसके प्रमुख स्रोत है तो साहित्य के क्षेत्र में ये कार्य अज्ञेय ने बखूबी निभाया है। दोनों ने यह आत्मविश्वास आत्मपरक सार्थकता को केन्द्र में रखने वाली भारतीय आस्थवान दृष्टि से प्राप्त किया है। जिस तरह गांधी आधुनिकता के क्रिटीक की तरह पढ़े समझे जा रहे हैं। उन्हीं तत्वों और आधारों पर अज्ञेय भी आधुनिकता के क्रिटीक हैं। शंभुनाथ सिंह ने असाध्य वीणा के संदर्भ में लिखा है, ''असाध्य वीणा को अनुभूति को वैयक्तिकता की देन, व्यक्तित्व की खोज आधुनिक परिवेश के साथ समझौते का सूचक, हिन्दू चेतना भी उपज, ऐसा ही बहुत कुछ कहा गया है। जबकि इसे आधुनिकीकरण के 'क्रिटीक' के रूप में पढ़ा जाना चाहिए।''[21] अज्ञेय का चिन्तन केवल आधुनिकीकरण का क्रिटीक ही नहीं अपितु 'आधुनिकता का क्रिटीक' भी बन जाता है। जब वे आभ्यांतर की आवाज से आस्था को प्रमाण और प्रेरणा के रूप में प्राप्त करते हैं और इसी के साथ सृजन में प्रवृत्त होते हैं।

सृजनशीलता और मुक्ति का तीसरा पक्ष है– उस जड़ता और अजनबीपन से मुक्ति का जो यांत्रिक समाज की देन है। मानव के लिए यह समस्या कुछ इस तरह है कि जिन साधनों का वह अपने आपको और स्वतंत्र करने के लिए प्रयोग कर रहा है, वे साधन कुछ भौतिक स्वतंत्र ला रहे हैं तो कहीं अधिक मनुष्य को भीतर से गुलाम भी बनाते जा रहे हैं। इस संबन्ध में अज्ञेय ने 'भवन्ती' में एक बड़ी रोचक टिप्पणी दर्ज की है–

''मोटर (या वायुयान) मेरी टांगों का विस्तार है, दूरबीन मेरी आंख का, माइक्रोफोन मेरी आवाज़ का मुद्रण यन्त्र मेरी लेखनी का जो स्वयं मेरी उंगलियों का, मेरी वाणी का, मेरी स्मृति का विस्तार है। इन उपकरणों के सहारे हमारी अर्हता का विस्तार होता है, उससे हमारी अहन्ता की स्फीत होती होती है।''[22] इसी तथ्य का दूसरा पक्ष भी है– ''दूसरा पक्षः मोटर हमारी टांगों का विस्तार है, इसलिए मोटर के आते ही हमारी टांगें बेकार होने लगती हैं, माइक के आते ही स्वर क्षीण होने लगता

है। छपाई के आते ही हमारी लिखावट बिगड़ती है, जैसे कि लिपि के आविष्कार के साथ स्मृति दुर्बल होती गई थी...''[23] अब अपनी इन दोनों एलगरीज़ से अज्ञेय निष्कर्ष निकालते हैं, ''प्रश्नः तो क्या हम बाध्य हैं कि हम उन्नति करके अहं का विस्तार करें तो गौण अर्हता का विस्तार करते हुए मूल सामर्थ्य को लुप्त हो जाने दें? क्या उन्नति के चरम बिन्दु पर हम में बच रहेगी (1) असीम अहन्ता और (2) आत्यन्तिक असमर्थता?''[24]

मुक्ति के संबंध में असल समस्या जिस यांत्रिकता के कारण पैदा हुई है। जो मनुष्य को निरन्तर एकाकी जड़, यंत्रवत् बनायी जा रही है। उसके आभ्यांतर का नाश करती जा रही है। यह समस्या तो सृजनशीलता के माध्यम से हल की जा सकती है। सृजन की प्रेरणा, प्रक्रिया और प्रतिफल इस यांत्रिकता के कारण बढ़ने वाली आंतरिक गुलामी को खत्म कर सकते हैं। सृजन से जहां अंत में रचने का तोष प्राप्त होता है, जो यन्त्रवतता और जड़ता को समाप्त करता है तो सृजन की प्रेरणा और प्रक्रिया व्यक्ति को सौन्दर्य के क्षेत्र के साथ–साथ शिवत्व के क्षेत्र और नैतिकता क्षेत्र की ओर ले जाती है। अज्ञेय ने भी इस ओर संकेत किया है, ''विवेकशील मानव की–विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिस में सर्जनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है– ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है। बुद्धि और जिस बुद्धि आधारित है वह अनुभव, निरंतर विकासशील और संस्कारशील हैं। निरन्तर सूक्ष्म होती हुई संवेदना एकांगी भी हो सकती है, पर जहां सर्जनात्मक शक्ति है वहां एकांगिकता की संभावना कम है और पुष्ट सौन्दर्यबोध के साथ पुष्ट नैतिकबोध भी होता है। जिस प्रकार कृतिकार सुंदर का स्रष्टा होकर असुंदर के सायास परित्याग के द्वारा सुंदर की उपलब्धि नहीं करता इसी प्रकार वह नैतिक द्रष्टा होकर सायस अनैतिक के विरोध द्वारा नैतिक को नहीं पाता, उस की पुष्ट संवेदना सहज भाव से दोनों को पाती है, और देती है। इसलिए कला हमें आनन्द भी देती हैं, हमारा उन्नयन भी करती है।''[25] इस प्रकार रचनात्मकता यत्रवतता से मनुष्य और उसके परिवेश की रक्षा दुहरे स्तर पर करती है। उसे रचना से मिलने वाला तोष तो

मिलता ही है, साथ ही सृजन की पूरी प्रक्रिया व्यक्ति को एक ऊँचे नैतिक धरातल पर भी ले जाती है।

संकट अधिक तब गहरा जाता है, जब यह यांत्रिकता जिस एक आयामी वैज्ञानिक प्रगति से जन्मी है उसकी प्रणालियों और प्रविधियों को ही एक मात्र प्रत्यय के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है और इसी पर चलकर मनुष्य और मनुष्यता की सारी आवश्यकताओं, समस्याओं और समाधानों के विषय में विचार किया जाता है। यह वैज्ञानिकता का प्रत्यय नीतिविहीन या अतिनैतिक है। इसीलिए मनुष्य एक अतिनैतिक परिवेश में रहने वाले नैतिक जीव की विडम्बना को सहने के लिए अभिशप्त हो रहा है। यदि मनुष्य भी नैतिकता विहीन या अतिनैतिक होता तो उसकी चेतना में गुत्थियां नहीं पड़ती या यदि समाज ही नैतिक बचा रहता तो भी यह स्थिति न पैदा होती। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस समस्या को हल करने की जगह टाल जाता है, क्योंकि उसकी बुनियाद में भी अतिनैतिक वैज्ञानिकता का प्रत्यय ही है। इसे पहचान करके अज्ञेय ने 'साहित्यबोधः आधुनिकता के तत्व' नामक अपने निबंध में लिखा है, ''आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपचारों का भी आधार यही है। वे नैतिकता के किसी प्रश्न का हल नहीं बताते, न समाज को परिवर्तित करने के संबंध में कोई संकेत देते है। वे केवल अनैतिक समाज में रहने के तनाव को दूर कर देते हैं, यह सम्भव बना देते हैं कि नैतिकता संपन्न व्यक्ति बिना अनावश्यक क्लेश के उस अनैतिक समाज में रह सके। मनोविज्ञान की परिभाषाओं के अनुसार मानव समाज को बदलने या सुधारने की समाज कल्याण की कोई भी चेष्टा ऐसा मन या व्यक्तित्व नहीं कर सकती जिसे स्वस्थ या साधारण (नार्मल) कहा जा सके, समाज को आगे ले जाने वाले व्यक्ति का अस्वस्थ और असंतुलित होना उन परिभाषाओं के अनुसार अनिवार्य है– इससे मनोवैज्ञानिकों को कोई चिंता या उलझन नहीं होती। उन्हें यह नहीं दीखता कि ऐसा है तो कहीं उन का मनोविज्ञान अधूरा है या उन का 'एप्रोच' गलत है।''[26]

आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषा के अनुसार जड़ यांत्रिक और शोषणकारी व्यवस्था और परिवेश को बदलने की इच्छा रखने वाला और उसके लिए चेष्टा करने वाला व्यक्ति असंतुलित और अस्वस्थ है। अतिनैतिक एप्रोच से इस निष्कर्ष से इतर और किसी निष्कर्ष की उम्मीद नहीं की जा सकती। नीति–अनीति से ऊपर होने के कारण सम्पूर्ण वैज्ञानिक प्रगति और उस पर आधारित व्यवस्थाएं यन्त्रवत् हैं। मनुष्य यन्त्रवत् होने के लिए अभिशप्त है। इस अभिशाप का परिष्कार तो वह सृजनशीलता के माध्यम से कर सकता है। पर अज्ञेय ने इसके आगे के संकट की ओर भी इशारा किया है। वे लिखते हैं, ''यह भी कहा जा सकता है कि उसे यह संकेत मिला कि तत्त्व कुछ है ही नहीं, रचना ही रचना है और गति ही गति है। परवर्ती भौतिक शोध ने 'पदार्थ' के साथ 'प्रति पदार्थ' की उद्भावना कर के स्थिति को और उलझाया है। हम जानते हैं कि ऊर्जा ही निरंतर स्वल्प या अनत्यल्प काल के लिए द्रव्य रूप लेती रहती है। वास्तव और अवास्तव के अलावा आज एक 'प्रति वास्तव' भी हमारे सामने है। वास्तव में शोध ने इस प्रकार जिस नयी अवास्तविकता को जन्म दिया है, उस में संवेदना के प्रकार का बदल जाना स्वाभाविक है।''[27]

इस विवेचन को चरम पर ले जाते हुए अज्ञेय कहते हैं, ''जीवन की प्रक्रिया का यह बढ़ता हुआ ज्ञान, जीवन यंत्र की यांत्रिक गति का बढ़ता हुआ परिचय अपने आप में एक समस्या है। जितना ही अधिक हमारा जीवन सतह पर आता जाता है उतना ही सतह बढ़ती जाती है, अर्थात् उस के अनुपात में आभ्यांतर जीवन उतना ही छोटा होता जाता है। जितना ही हम सतह पर जीते है, उतना ही सतह पर भीड़ भी होती जाती है, स्वयं सतहों की भीड़ होती जाती है। जीवन स्फटिक रचना ही रचना है, गति ही गति है, तत्त्व कुछ है या नहीं, हम नहीं जानते।''[28]

पदार्थ विज्ञान की यह अनिश्चितता यांत्रिकता को और अधिक भयावह करती जा रही है, जो तर्क बुद्धिवाद की सर्वसत्ता के by-product रूप में धीरे–धीरे प्रसारित हुई है। जिसका परिणाम यह हुआ था कि यह दावा किया जाने लगा कि प्रकृति के नियमों के साथ मानव मस्तिष्क को भी अधिकाधिक जानकर उसकी तार्किक और

सर्जनात्मक दोनों तरह की कुशलता को बढ़ाया जा सकता है, Customize किया जा सकता है। इसके पीछे–यह तर्क दिया जाने लगा कि सृजन की प्रक्रिया को जानकर उसे किया जा सकता है। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य जो कि पहले से सृजनशील था उसकी सृजनात्मक क्षमता को यांत्रिकता के नियमों के अनुसार समझने और प्रयोग में लाने की प्रणालियां विकसित की जाने लगीं। पूरे यूरोप में उस दौर में शिक्षा संस्थानों एवं उद्योग धंधों में किए गए महत्वपूर्ण प्रयोगों, कारखानों में क्रियेटिविटी आफिसर्स की नियुक्तियों और कुछ विदेशी विश्वविद्यालयों में खोले गए 'सर्जना विभाग' इस बात का प्रमाण हैं। सृजनशीलता को आधुनिक मनोविज्ञान के औजारों द्वारा विश्लेषित किए जाने से दो बड़ी गड़बडियां पैदा होने लगीं। एक तो इस तरह से किये जाने वाले विश्लेषण में सर्जक को परदे के पीछे डालकर रचना को सर्जक से स्वतंत्र–स्वायत्त मानकर विश्लेषित किया जाने लगा। दूसरी गड़बड़ी यह हुई कि हर तरह के निर्माण को एक ही सूत से नापा–मापा जाने लगा, जिससे कलात्मक रचनाशीलता को यांत्रिक रूप से विश्लेषित किया जाने लगा। परिणाम स्वरूप दुनिया भर की सर्जक प्रतिभाओं की ओर से इसका विरोध किया जाने लगा और सृजनशीलता की स्वायत्तता को स्थापित करने के प्रयास तेजी से बढ़ने लगे। ये सारे प्रयास यांत्रिकता को हटाने में चिन्तन और व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में एक विश्वदृष्टि बनाने में सफल भी हुये। परन्तु जैसे ही पदार्थ विज्ञान ने एक कदम और बढ़ाया दूसरे ढंग का संकट सामने आ गया। जब तक विज्ञान स्वयं सिद्ध था तब तक तो इस दावे का विरोध हो सकता था और किया भी गया। पर जैसे विज्ञान ने ही 'अनिश्चितता' को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया, सारा जीवन ही एक तरह से सतह पर आ गया। वैज्ञानिक सर्वसत्ता का विरोध तो या कहें कि उसकी अतिनैतिकता का परिहार तो फिर भी किया गया। पर इसकी अनिश्चितता के आगे खड़ा करने के उपाय के रूप में कोई भी निश्चितता का आधार आज हमारे सामने नहीं है। ईश्वर जब तक निश्चितता का आधार था, तब तक ये समस्याएँ पैदा ही नहीं हुई थी। आधुनिक कलाकार के लिए, सृजनशीलता में आधुनिकता के दबाव से मुक्ति देखने वाले कलाकार के लिए भी ये स्थिति

प्रश्नवाचक चिह्न की तरह खड़ी हो गयी। अज्ञेय के चिन्तन में इस प्रश्नवाचक स्थिति की पहचान को देखकर ही कई बार अति उत्साह में उन्हें उत्तर–आधुनिक चिन्तन प्रणालियों से जोड़ने का प्रयास किया जाता है, जो तर्कसंगत नहीं है। अज्ञेय आधुनिकता की अभिव्यक्ति और उसकी जड़ता के क्रिटीक की तरह ही पढ़े जाने चाहिये।

अंत में अज्ञेय के संदर्भ में यही बात कही जा सकती है कि उनके व्यक्तित्व पर आधुनिकता की गहरी छाप है। साथ ही वे उसकी सीमाओं से भी परिचित हैं। इसलिए वे उसके परिहार के लिए प्रयासरत होते हैं। यांत्रिकता, अनिश्चितता आदि के संकट को अज्ञेय सृजनशीलता के माध्यम से ही हल करते हैं, जिसके मूल में कुछ उपलब्ध करने से अधिक उत्सर्ग हो जाने के भाव पर ही बल दिया गया है।

3.3 काल और मुक्ति

काल के सन्दर्भ में मुक्ति का अर्थ है–एक कालातीत आयाम की प्राप्ति। कालातीत होना यानी चेतना जो अनिवार्यतया स्मृति और आकांक्षा या अतीत के अनुप्रवाह या भविष्य के प्रतिप्रवाह से बंधी है, का मुक्त होकर वर्तमान के क्षण में स्थिर रहना। अज्ञेय ने 'काल का डमरूनाद' में इसे कुछ इस तरह प्रस्तुत किया है– ''वह केवल क्षण अत्यंत वर्तमान है क्या? यदि काल स्रोत अनिवार्यतया अतीत का अनुप्रवाही अथवा भविष्यत् का प्रतिप्रवाही है, यदि हमारी काल चेतना अनिवार्यतया अभिमुख या प्रतिमुख है, तो उस केवल वर्तमान का बोध कैसे हो? स्पष्ट है कि वर्तमान काल, भूतकालल और भविष्यत् काल के बीच में है। तब आत्यंतिक संक्रमण होता है : वह क्षण जिसकी न स्मृति है, न प्रतीक्षा अथवा कामना। कोई ऐसा क्षण पाया जा सके–ऐसे क्षण कोई पा सके, आत्मचेतन होकर स्मृति और आकांक्षा से परे जी सके, तो वह ऐसा व्यक्ति हो जायेगा जिसकी छाया नहीं होती, उस की ऐसी शुद्ध काल चेतना होगी कि वह काल मुक्त हो जायेगी। क्योंकि जो अत्यंत वर्तमान में शुद्ध सत्ता में जी सकता है, उसके लिए दो शंकु अतीत व भविष्यत् के फैलाव सिमट कर शीर्ष बिंदु में लय हो जायेंगे, स्रोत थम जायेगा। ऐसे जी सकने वाला

कालजित् होगा, जीवन्मुक्त होगा : उसे चिरंतन वर्तमान में अमरत्व प्राप्त हो गया होगा।''[29] अज्ञेय आगे कहते है कि आधुनिक मति वाले व्यक्ति को भी यह व्याख्या स्वीकार होगी परन्तु व्यवहार में यह अत्यंत कठिन है।

क्रियात्मक योग में विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा ऐसे क्षण को उपलब्ध करने और उसमें सम्पूर्ण रूप से नियुक्त होने का निर्देशन किया गया है। अष्टांग योग और पातंजलि योग शास्त्र में ऐसी अवस्था को असमप्रज्ञात समाधि के रूप में चित्रित किया गया है। अज्ञेय अपने इसी लेख में कहते है कि सर्जक कलाकार के भीतर ये काल चेतना के संवेदनात्मक रूप उपनिषद् और गीता के अध्ययन के बिना भी उसके संवेदन–यंत्र के कारण पैदा होते रहते हैं। अज्ञेय बताते है कि टी॰एस॰ एलियट को ऐसे वर्तमान क्षण का यत्किंचित् आभास तो हुआ था। इसके प्रमाण में ही वे इलियट की काव्यपंक्तियों के हिन्दी अनुवाद को प्रस्तुत करते हैं–

''अतीत काल और भविष्यत् काल
चेतना को थोड़ा ही अवकाश देते हैं।
चेतन होना काल में जीना नहीं हैं।''[30]

यहां तक तो एलियट की दृष्टि ठीक है कि 'चेतन होना' सत्ता में जीना है, काल में जीना नहीं। परन्तु अज्ञेय एलियट के माध्यम से उस विरोधाभास को सामने रखते हैं, जो काल की पश्चिमी एक रेखीय अवधारणा के कारण पैदा होता है।

''किन्तु काल में ही गुलाब बाड़ी का क्षण
ठिठुरते गिरजाघर की धूमिल वेला का क्षण
स्मरण किया जा सकता है, अतीत और भविष्यत् से गुंथा हुआ।
काल के द्वारा ही काल को जीता जा सकता है।''[31]

अज्ञेय के अनुसार चेतन होने को इस तरह परिभाषित करने से कालातीत अर्थ में चेतन होने की संभावना को नकार दिया जाता है। यानी ''जब वह (एलियट)

'स्मरण किये गये क्षण' की बात करता है तब उस का सारा तर्क दूषित हो जाता है, क्योंकि स्मरण तो काल के–अतीत काल के–साथ बंधा है ही। काल पर विजय यदि संभव है तो स्मरण के द्वारा नहीं है (आकांक्षा के द्वारा भी नहीं है), वह अत्यंत वर्तमान में एक आत्मचेतन अस्ति के द्वारा ही संभव है। हो सकता है कि गुलाब बाड़ी का क्षण ऐसा एक क्षण रहा हो, किंतु अगर वह वैसा था तो उस क्षण में प्राप्त काल विजय उसी क्षण की थी, उसी अत्यंत वर्तमान क्षण में क्रियामाण चेतन के अस्तिबोध की विजय थी। उस क्षण का 'स्मरण' किया जायेगा तो 'काल में' ही होगा; 'प्रतीक्षा' या 'आकांक्षा' की जायेगी तो वह भी 'काल में' ही होगी; पर उस को जिया गया 'सत्ता' में ही जो नित्य है, सनातन है। एलियट विजय की बात करता हैः अतीत विजय की स्मृति स्वयं विजय नहीं हो सकती।''[32]

कालबोध के इस अंतर्विरोध को अज्ञेय संवत्सर की क्रमागत भूमिकाओं में और विस्तार से स्पष्ट करते हैं और इस अंतर्विरोध को देखते हुए ही कालातीत अवबोध के भारतीय चक्रीय काल की अवधारणा के और समीप जाते चले जाते हैं। 'दिग्विहीन' में अज्ञेय लिखते हैं कि ''बात यह है कि काल की कोई माप तो हमारे पास है नहीं–बल्कि काल है क्या, यह भी तो हम जानते नहीं– काल के बारे में तरह–तरह के 'समय' हमने बना रखे हैं – ओर उन्हीं के सहारे चलते रहते हैं। अब जैसे यही कि 'काल गति है' : हमें क्या पता कि वह क्या? पर 'गति' है तो उसकी 'दिशा' होनी चाहिए। अब बताइए कि होने की क्या दिशा होती है? अब अपनी ही परिभाषा के चक्कर में फंस गए है तो कहते हैं कि हां, होने की भी दिशा है– सब होना मरणोन्मुख है यानी काल की दिशा मृत्यु की दिशा है। और इस मरणोन्मुख दिशा में गति को हम प्रगति कहते हैं (!) और इतिहास की दिशा कहते हैं। यह एक दिशा में बढ़ गया कभी न लौटने वाला काल ही वास्तविक है और बाकी सब मिथ्या है। यानी जो हम ठीक से जान भी नहीं पाये–और बहुत सा जो कभी जानकारी में आया ही नहीं–वह तो वास्तविक है, और हमारे अनुभव का सारा या लगभग सारा साक्ष्य झूठ है। और यह फतवा किस आधार पर? इसलिए कि हम ने ऐसी एक परिभाषा चुन ली है जिस से यह नतीजा निकलता है।''[33]

यह मृत्यून्मुख, विषयीभक्त और सावधि रेखानुसारी गति से बंधे अवबोध से चेतना की मुक्ति इसी कारण से उस क्षण मात्र में संभव है। इस उपलब्धि को सनातन बना सकने का कोई उपकरण वहां नहीं है। क्रियात्मक योग में तो प्राप्त कर लिया गया 'अत्यंत वर्तमान' असम्प्रज्ञात समाधि के कारण शाश्वत है, परन्तु यह योगी की उपलब्धि है, सर्जक कलाकार की नहीं। इसलिए एलियट का ये अनुभव शाश्वत नहीं रह पाता। शायद यही कारण है कि भारतीय मनीषा ने कालातीत को सर्वसामान्य के लिए उपलब्ध कराने और उसके अवबोध में इस आयाम को बिठाने के लिए काल की चक्रीय अवधारणा यानी निरावधि काल की अवधारणा का विकास किया है। एक ऐसा आयाम जहां भूत, भविष्य, वर्तमान हो ही नहीं। एक वलय में न तो कोई प्रारम्भ होता है, न मध्य और न ही कोई अंत। संस्कृत नाटककार नाटक के प्रारम्भ में इस निरवधि काल का सर्जनात्मक प्रयोग करके मनुष्य को उसके सावधि काल में घेरे से बडे और सुरक्षित घेरे में ले जाते थे, जहां कालातीत आयाम का बोध पाठक को होता था। यह सर्जनात्मक युक्ति थी– नांदीपाठ। अगर नांदीपाठ का एक उदाहरण लिया जाये तो बात और स्पष्ट रूप से सामने आ जायेगी। एक नांदीपाठ का पद है–

''अंगुल्या कः कपाटं प्रहरति कुटिलरे माधवः किं वसन्तों
नो चक्री किं कुलालो नहि धरणिधरः किं द्विजिह्वः फणीन्द्रः
नाहं घोराहिमर्दी किमुत खगपतिः नो हरिः किं कवीन्द्रः
इत्येवं सत्यभामा–प्रतिवचनजितः पातु न चक्रपाणिः।।''[34]

पहली तीन पंक्तियों में कृष्ण और सत्यभामा का विनोद व्यवहार चित्रित किया है, जिसमें सत्यभामा की वाक्कुशलता के सम्मुख कृष्ण परास्त हो जाते हैं और नाटककार प्रार्थना करता है कि 'सत्यभामा के प्रतिवचन से इस प्रकार परास्त हुए चक्रपाणि कृष्ण हमारी रक्षा करें।' अज्ञेय ऐसे मंगलाचरणों का आशय मात्र कौतुक भाव जगाकर दर्शकों की अनुकूलता पाना नहीं मानते। बल्कि पाते हैं कि ''पहले तीन चरणों का देशकाल देवताओं का होता है, चौथे चरण का देश काल

नाटक देखने वाले सामाजिक का। वह वहां जो देवता लीला कर रहा है, वह देवता यहाँ कि स्थिति में हमारी रक्षा करे इन मंगलाचरण श्लोकों का रेखा–रूप यही होता है।''[35] वे आगे लिखते हैं ''देवताओं का लोक निर्बाध निःसीम है, उन का काल अमरों का अनादिमध्यान्त और अवधिहीन काल, उनकी लीला उसी देश–काल में होती है। होती है तो होकर चुकती नहीं, सतत होती रहती है– बल्कि हो रही है। दूसरी ओर सूत्रधार नट–नटी, दर्शक–सामाजिक का काल यह–यहां है, वह न अनादि है न अनन्त उस की छोटी सी और सतत् संकटाकुल अवधि है। मंगलाचरण के पहले तीन चरण हमें निरवधि काल का संकेत देते हुए उसके महावृत्त में स्थापित कर देते हैं, चौथे चरण में हम निःसीम व्योम से उतर कर यहां की ठोस धरती पर आ जाते हैं जहां सब कुछ नश्वर है।''[36] अज्ञेय इससे निष्कर्ष निकालते हैं कि ''जिस प्रकार हमारे अनुभूत काल का छोटा–सा बुलबुला देवताओं के निरवधिकाल के महावृत्त से घिरा हुआ है, उसी तरह हमारा नश्वर जीवन भी अमरत्व के वृहत्तर आयाम से घिरा हुआ है। श्लोक की छोटी–सी चौथी पंक्ति पर आरम्भ की तीनों पंक्तियाँ हावी हैं, उसी प्रकार निरवधि महाकाल हमारे छोटे काल को घेर हुए है और अमरत्व का वृत्त हम मर्त्यों के छोटे–से जीवन–वृत्त को।''[37]

निरवधि काल की अवधारणा काल की चक्रीय अवधारणा का विस्तार है और काल की इस चक्रीय अवधारणा को भारतीय मनीषा ने प्रकृति के एकदम नजदीक रहकर उसकी प्रक्रियागत अर्थवत्ता से उपलब्ध किया है। आरण्यक–आश्रमिकों ने प्रकृति के निकट रहते देखा कि जो बनता है वह मिटता है। पर यह मिटना नये बनने की उर्वर भूमि बन जाता है। पेड़ से टूटा हुआ पत्ता, जमीन में मिलकर नये अंकुर के लिए उर्वर खाद बनता है। इसीलिए ये आरण्यक–आश्रमिक जीवन की नश्वरता पर दृष्टि न रखकर उसकी सनातन आवर्तन–प्रक्रिया के द्रष्टा बने ओर वे कह सके–

''देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।''[38]

अज्ञेय ने भी अपने संवेदन–यंत्र से चक्रण की इस प्रक्रियागत अर्थवत्ता के माध्यम से शाश्वतता की अनुभूति को उपलब्ध किया है। वे लिखते है, ''मैं तो झरते पत्ते को देख कर भी अटक जाता हूं। पहले 'झरना' ही लीजिए– एक तरफ वह झरकर गिरना है तो दूसरी तरफ वह झरना, प्रपात की स्रोतस्विता है : पत्ता भी झरता है और वन–झरने की धार भी झरती है– और उस का झरना ही अनन्त प्रक्रिया है। झरता पत्ता भी अगर एक ओर अपने अंत का संकत देता है तो दूसरी ओर क्या उस प्रक्रिया का भी संकेत नहीं देता जिस में अंत है ही नहीं, केवल अर्थ– क्रियाओं की सान्तता है?''[39] यही जीवनदृष्टि काल की चक्रीय अवधारणा के केन्द्र में है, जो भारतीय पुराण साहित्य में सतयुग, त्रेता, द्वापर और कल युग के चक्रीय क्रम में दिखायी पड़ती है, तो आत्मा के पुनर्जन्म की अवधारणा के पीछे भी इसकी कुछ अंशभागिता देखी जा सकती है। यही औपनिषदिक निरवधि काल की अवधारणा का भी मूल यही है। इन सबके भीतर औसत भारतीय मनुष्य को मृत्यु की सहज स्वीकार्यता का अवलम्बन मिलता रहता है। अज्ञेय ने कालातीत आयाम के भारतीय जनमानस में व्याप्त इस सर्वसाधारण बोध को लक्ष्य करके लिखा है, ''इस पर अचरज हो सकता है कि जिस संस्कृति में मृत्यु का स्वीकार इतना गहरा है, उस का काल प्रतीक मृत्यु की प्रतिज्ञा लेकर न चले, और दूसरी ओर आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता, जिसमें मृत्यु को नकारने का इतना प्रबल आग्रह है, काल की कोई ऐसी अवधारणा न कर सके जिस में वह मृत्यून्मुख गति से ही इतर कुछ हो सकता है। कदाचित् इसका कारण यही हो कि मृत्यु का स्वीकार ही इसे संभव बना देता है कि उसे हम एक पृथक तत्व मानकर एक ओर रख सकें और हमारा सारा काल चिंतन उस की गहरी छाया से ग्रसित न हो जाये।''[40]

पश्चिमी एक रेखीय काल की अवधारणा से चेतना की सत्ता की उपलब्धि के क्षण, उस 'जीवित क्षण' की पहचान हो जाती है, जो एलियट को गुलाब बाड़ी के संदर्भ में हुई थी। परन्तु काल के किसी बृहत्तर आयाम की चेतना के अभाव में 'जीवित क्षण' को पकड़ने के पश्चिमी कलाकारों के सारे प्रयास केवल गोचर अनुभवों तक सीमित कर लिए जाते हैं और सभी मूल्यवाही शब्दों का बहिष्कार कर दिया

जाता है। क्योंकि गोचर अनुभवों से अधिक कुछ भी होना है तो स्मरण का आधार अवश्य होगा और ऐसे में कालगत दूरी अपेक्षित हो जायेगी। इसीलिए अज्ञेय अपने लिए दोहरा काल बोध उपलब्ध करते हैं काल की एक ऐसी अवधारणा जो सावधि और निरवधि का मिश्रण हो। एक महावृत्त की परिधि पर चक्कर लगाता डमरू जिसके धागे दोनों ओर–अतीत और भविष्यत् को छूते हैं इस तरह यह खोज कालजीवी मानव की पहचान से आगे बढ़कर कालजीवी मानव की सार्थकता की पहचान बन जाती है। निरवधि का वृत्त मूल्यहीन गोचर अनुभवों के क्षेत्र तक सीमित रहने की विवशता को खत्म कर देता है और 'जीवन क्षण' की उपलब्धि शाश्वत बन पाती है।

3.4 प्रेम और मुक्ति

प्रेम के संबंध में मुक्ति का प्रश्न उतना ही पुराना और अर्थवान है, जितनी पुरानी स्वयं प्रेम की अनुभूति। कभी प्रेम को अनन्य त्याग के रूप में देखा जाता रहा है तो कभी एकाधिकार के भाव में असल में प्रेम के साथ विडम्बना यह है कि यह दो सत्ताओं के बीच की वह अनुभूति है जो उन्हें एकत्व में स्थित करना चाहती है। परन्तु एकत्व की स्थिति में इसे अनुभव नहीं किया जा सकता है। इस विडम्बना के बीच ही प्रेम उन दो ध्रुवों पर झूलता है जो एकत्व की उपलब्धि के साधन हो सकते हैं। पहला कि प्रेमी अपनी सत्ता को, अपने सम्पूर्ण को अपने प्रियतम को अर्पित कर दे। यह समर्पण का ध्रुव है। दूसरा ध्रुव एकाधिकार का है कि प्रेमी अपने प्रियतम पर एकाधिकार हासिल कर ले। इन दो ध्रुवों के बीच भिन्न–भिन्न समयों में प्रेम को समझा और भोगा गया है। यही 'अधिकार कामना' और 'आत्मसमर्पण का द्वन्द्व' आधुनिक मानव की नियति बनता जा रहा है। सार्त्र ने प्रेम की विडम्बना के एक दूसरे आयाम को प्रस्तुत किया है, जिसके मूल में भी एकत्व की उपलब्धि का ही प्रश्न है कि "अन्य की आत्मवत्ता हमारे अनुभव का अंग सिर्फ दो तरीकों से ही बन सकती है – या तो हम स्वयं को उसका विषय (object) मानें या कि उसे ही अपने विषय के रूप के रूप में देखें। किंतु दोनों ही स्थितियों में मैं (I as a subject), विषयी

के रूप में (him as a subject) को नहीं जान सकता। अन्य की आत्मवत्ता पर हम अधिकार इसलिए चाहते हैं कि स्वयं को हम अन्य के विषय बनाए जाने से बचाना चाहते हैं। प्रेमी और प्रिय दोनों को ऐसी ही आवश्यकता से संचालित होना प्रेम की अनस्थिरता और उसकी अंतिम असफलता के पीछे कारणीभूत है।"[41]

सार्त्र ने प्रेम की विडम्बना के क्रोड़ में स्थित 'एकत्व की उपलब्धि' के भी अन्तविर्रोध को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। एकत्व के लिए या तो आप किसी के विषय हो जाइये या किसी को विषय बना लीजिए। परन्तु दोनों ही स्थितियों में आप दूसरे को उपलब्ध नहीं कर पायेंगे। अज्ञेय भी प्रेम की इन विडम्बनाओं को समझ रहे थे। अपने प्रारम्भिक गद्यकाव्य में इस विडम्बना के चित्र भी उन्होंने खींचे हैं–

''हम दोनों एक–दूसरे के आखेट हैं और अनिवार्य, अटल मनोनियोग से एक दूसरे का पीछा कर रहे हैं।''[42]

परन्तु आगे चलकर इन बिडम्बनाओं के परिहार का मार्ग अज्ञेय कम से कम अपने चिन्तन में कुछ इस रूप में प्रस्तुत करते हैं– ''अनुकम्पा के ऐसे भी क्षण मुझे मिलते हैं जब प्रश्न का उत्तर पाते हुए पहचानता हूँ कि वह कितनी एकान्त 'वह' है– तुम कितनी एकान्त 'तुम' हो, और मैं कितना एकान्त 'मैं'। प्यार यों मिलाने में भी प्रखरतम व्यक्तित्व देता रहता हैः और फिर उसी को देखता, पहचानता, स्मरण पर उकेरता, विस्मय–भरा मैं निहारता रह जाता हूं– एकटक, जाने या अनजाने...'' अज्ञेय सार्त्र के Objectification की समस्या को अच्छी तरह समझ रहे थे। इसीलिए उन्होंने उससे पैदा होने वाली कुण्ठा और विकार के समाधान के लिए एक तीसरा ही रास्ता निकाला है। निश्चय ही यह रास्ता प्रेम की अनुभूति से पैदा हुये अपूर्णताबोध को प्रेमी–प्रेमिका से इतर एक आदर्शवादी पूर्णता की तरफ चला गया है। पर अज्ञेय इस रास्ते को दोनों (प्रेमी–प्रेमिका) के पूर्णता की, उनके स्वाधीन व्यक्तित्व की उपलब्धि के रूप में देखते हैं, ''तुम्हें मैं जो प्यार करता हूं उसे मैं समग्र विश्व को देता हूँ– दे देता हूँ। मेरे कर्म–व्यापार तुम्हारे साथ मुझे बाँधते हैं, लेकिन उन्हें समग्र के दे–देकर मैं मुक्त होता हूँ।

न तुमसे मुक्त, न अपने से मुक्त, न विश्व से मुक्त, तुम में मुक्त, अपने में मुक्त, समग्र में मुक्त। यह मुक्त होना ही एकात्म होना है, नहीं तो प्यार की सघनतम पीड़ा में भी द्वैत भाव से मुक्ति नहीं मिलती।''[43] इसी रास्ते पर चलने के कारण अज्ञेय के भीतर किसी किस्म का obsession नहीं है। ये obsession अज्ञेय के समकालीनों में किसी हद तक शमशेर जी में हैं। वैसे प्रेम में obsession सर्वाधिक उर्दू ग़ज़ल में दिखायी पड़ता है। उर्दू ग़ज़ल की पूरी रवायत इसी obsession में डूबकर उसे बलन्दी पर ले गयी है। यही उर्दू ग़ज़ल का हुस्न भी है। गज़लों में इसने दो तरह की शक्लें अख्तियार की हैं। कभी तो आशिक़ फ़क़त अपनी ज़ात को मिटा डालना चाहता है। तो कभी यह चरम व्यक्तिवाद का रूप धारण कर लेता है। दोनों ही रूपों में उर्दू ग़ज़ल ने खूब दाद बटोरी है। पर हैं दोनों ही obsession के रूप। ग़ालिब का यह शेर इन दोनों ही स्थितियों को व्यक्ति करता है–

''अिश्क़ मुझको नहीं, वहशत ही सही
मेरी वहशत, तिरी शोह्हर ही सही''[44]

अज्ञेय की प्रेम की धारणा विवेकानन्द के काफी क़रीब नज़र आती है, जब विवेकानन्द दो व्यक्ति इकाईयों के बीच की इस अनुभूति को समग्र की अनुभूति के साथ जोड़ देते हैं। इसीलिए अपने सारे आधुनिक तेवर के बावजूद अज्ञेय का एप्रोच आदर्शवादी ढंग का ही रहता है। हाँलाकि ये आदर्शवाद Possessiveness और obsession की समस्या का हल ढूँढने में कुछ सक्षम भी हो पाता है। चिन्तन में आदर्शवाद के ध्रुव पर खड़े अज्ञेय व्यवहार में ये युक्ति तो निकाल पाने में सफल होते हैं कि मैं तुम पर उतना ही अधिकार रखूँगा, जितना मैं तुम्हारे लिए प्रस्तुत होता हूँ।

संदर्भ सूची

[1] कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग 11), पृ. सं. 143–144, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[2] वही, पृ.सं. 144।

[3] वही, पृ.सं. 144–145।

[4] वही, पृ.सं. 145।

[5] वही, पृ.सं. 97।

[6] वही, पृ.सं. 145।

[7] वही, पृ.सं. 199।

[8] वही, पृ.सं. 96।

[9] वही, पृ.सं. 171।

[10] वही, पृ.सं. 164।

[11] वही।

[12] वही, पृ.सं. 165।

[13] वही, पृ.सं. 195।

[14] विदुर नीति प्रमुख श्लोक एवं उनकी व्याख्या, वैदिक प्रेस, श्लोक सं. 34।

[15] कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग 11), पृ. सं. 208–209, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[16] वही, पृ.सं. 91।

[17] वही।

[18] स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय', काव्य का उद्देश्य एवं प्रकृति, त्रिशंकु (सं.– कृष्णदत्त पालीवाल), पृ.सं. 20, सस्ता साहित्य मंडल नई दिल्ली, 2010, प्रथम संस्करण।

[19] स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय', प्रवृत्तिः अहं का विलयन, आत्मनेपद, पृ.सं. 23, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2003, पुनर्नवा संस्करण।

[20] कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग 11), पृ.सं. 209, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[21] शंभुनाथ, आधुनिकीकरण और अज्ञेय की चिन्ताएं, आलोचना (अप्रैल–जून 2011), पृ. सं. 65।

[22] कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग 11), पृ. सं. 121, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[23] वही।

[24] वही।

[25] स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय', सौन्दर्यबोध और शिवत्वबोध, सर्जना और संदर्भ, पृ.सं. 77, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 1985, प्रथम संस्करण।

[26] वही, साहित्यबोधः आधुनिकता के तत्त्व, पृ.सं. 82–83।

[27] वही, पृ.सं. 81।

[28] वही, पृ.सं. 83।

[29] वही, काल का डमरूनाद, पृ.सं. 232।

[30] वही, पृ.सं. 233।

[31] वही।

[32] वही।

[33] स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय', दिग्विहीन, संवत्सर, पृ.सं. 12–13, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 1978, प्रथम संस्करण।

[34] वही, वर्गवृत्त, पृ॰सं॰ 20।

[35] वही, पृ॰सं॰ 20–21।

[36] वही, पृ॰सं॰ 21।

[37] वही।

[38] वही, संवत्सर, पृ॰सं॰ 26।

[39] वही, पृ॰सं॰ 24–25।

[40] स॰ ही॰ वात्स्यायन 'अज्ञेय', काल का डमरू नाद, सर्जना और संदर्भ, पृ॰सं॰ 237, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 1985, प्रथम संस्करण।

[41] प्रणय कृष्ण, प्रेम और स्वाधीनता, अज्ञेय का काव्य प्रेम और मृत्यु, पृ॰सं॰ 68, आधार प्रकाशन पंचकूला, 2005।

[42] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग 1), पृ॰सं॰ 87, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[43] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग 9), पृ॰ सं॰ 241, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[44] अली सरदार जाफ़री (सं॰), दीवान–ए–ग़ालिब, पृ॰सं॰ 258, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, तीसरी आवृत्ति।

अध्याय–चार

अज्ञेय के कथा–साहित्य में मुक्ति के आयाम

4.1 प्रस्तावना

अपने पिछले अध्यायों में हम 'मुक्ति' के अर्थ, स्वरूप एवं विविध आयामों पर चर्चा कर आए हैं। अज्ञेय साहित्य का मूल बिंदु ही 'मुक्ति' है। ऐसा नहीं है कि साहित्य में मुक्ति से जुड़े सवाल पहले नहीं उठे, बल्कि अज्ञेय जिस युग की देन हैं वहाँ तो सबसे बड़ा प्रश्न ही मुक्ति का प्रश्न है। देश न केवल ब्रिटिश हुक्मरानों का गुलाम था बल्कि बहुत सी सामाजिक, धार्मिक बुराइयों के बेड़े में भी जकड़ा हुआ था। सुधारवादी आंदोलनों के दौर का अधिकतर साहित्य भी उसी सामाजिक ध्येय को ध्यान में रखते हुये सुधारवादी ढंग का था। अपनी गुलामी के प्रति अचेत जनता के मन में उस दौर के साहित्य ने जागरण फैलाने का कार्य किया।

इससे पहले भी मध्यकालीन संतों ने दोहरे स्तर पर मुक्ति के सवाल को उठाया। एक तो वह था जिसमें संपूर्ण जगत को 'माया' मानकर, सांसारिक भवसागर से मुक्ति की ओर प्रयाण था, और दूसरे कबीर, रैदास जैसे कवियों ने सामाजिक भेदभावों और बुराइयों पर चोट करते हुए उससे भी मुक्ति की बात की। रीतिकालीन कवि जो ज़्यादातर दरबारों के गुलाम थे, दरबारी साहित्य और नख–शिख वर्णन तक ही सीमित रह गये थे, वहाँ घनानंद जैसे भी कवि थे जो कहते थे 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत' और इसके माध्यम से दरबारी रीति से 'मुक्ति' की ओर बढ़ने का अनुक्रम करते थे। परम्परा में और भी पीछे जाएँ तो वेदों, उपनिषदों, पुराणों, मीमांसाओं, दर्शनों, संस्कृत साहित्य आदि में अलग–अलग ढंग से 'मुक्ति' के सवाल पर बहस मिलती है जिसका निदर्शन हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। संपूर्ण भारतीय 'वाङ्मय' में ही 'मुक्ति' या मोक्ष' का प्रश्न बार–बार आया हैं।

'अज्ञेय' के यहाँ यह 'मुक्ति' या 'स्वतंत्रता' का प्रश्न किस तरह से आया है, उनकी रचनाओं में मुक्ति का सवाल किस ढंग से खड़ा होता है और उसके उत्तर की खोज में वह लगातार किस प्रकार शोधन करते हैं? इन सभी सवालों के जवाब हमें 'अज्ञेय के मुक्ति संबंधी विचार' वाले अध्याय में मिलते हैं। इस अध्याय में अज्ञेय के कथा–साहित्य में मुक्ति का स्वरूप क्या है, इसपर चर्चा की जाएगी।

अज्ञेय का व्यक्तित्व विद्रोही किस्म का रहा है। कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जीवन का उनका एक पक्ष क्रांतिकारी की तरह बीता है। शुरूआत की उनकी कहानियाँ उठाएँ तो क्रांतिकारियों की मानसिक बनावट किस तरह की होती है या क्रांति क्यों आवश्यक है, महत्तर उद्देश्य के लिए हिंसा सही क्यों है इस तरह के प्रश्न उसमें मिलते हैं। बाद के उनके कथा साहित्य में भी समाजिक नैतिकताओं को लेकर जो एक अलग तरह की दृष्टि मिलती है वह भी उन्हें विद्रोही ही करार देती है। सवाल है– विद्रोह क्यों? किससे? जवाब सीधा है– स्वतंत्रता के लिए, नएपन के लिए। व्यक्ति की स्वतंत्रता, रचना की स्वतंत्रता, समाज की रूढ़िगत मान्यताओं से स्वतंत्रता, संस्कृति और परम्परा का दाय स्वीकार करते हुए भी अपनी 'इंडिविजुएलिटी' को बनाए रख संस्कृति की नदी को सींचने, उसमें कुछ नया जोड़ने की स्वतंत्रता। इसी स्वतंत्र प्रवृत्ति के ही कारण अज्ञेय अपने साहित्य में प्रयोगधर्मी भी रहे हैं उनका स्पष्ट मानना रहा है– 'व्यक्ति स्वतंत्र हो, तभी वह समाज को स्वस्थ और सुंदर बना सकता हैं।'

अज्ञेय का संपूर्ण साहित्य 'संपूर्णता की खोज' की यात्रा कहा जा सकता है। संपूर्णता को प्राप्त कर लेना ही मुक्त हो जाना है। इसलिए हम देखते हैं कि रचनाकार अज्ञेय अलग–अलग समयों में अपनी युगीन परिस्थितियों के अनुरूप अपनी उस खोज को अलग–अलग दिशा देता जाता है। शुरूआती भावावेग क्रमशः व्यक्ति–समाज के द्वंद्व में तदोपरांत ध्यान एवं अध्यात्म में, मानवताबोध में और अंततः प्रपत्ति भाव प्रतिफलित होता जाता है।

अज्ञेय के कथा–साहित्य में सम्बन्धों के जितने भी आयाम हैं, फिर चाहे वह व्यक्ति–समाज के स्तर पर हो, स्त्री–पुरूष के स्तर पर हो, परंपरा–आधुनिकता का संघर्ष हो, मनुष्य की इयत्ता का सवाल हो इन सभी को अज्ञेय के मुक्ति संबंधी उस विचार से समझा जा सकता है जिसमें वह कहते हैं– 'मैं उतना ही स्वतंत्र हूँ जितना मैं दूसरे को कर सकता हूँ।'

''रचनाकार अज्ञेय ने स्वाधीन मनुष्य और स्वाधीन चिंतन के लिए अपने आत्मबोध, आत्मान्वेषण, आत्मसमर्पण और दायित्वपूर्ण सामाजिकता को एक विलक्षण संतुलन के साथ साधा है।''[1]

उनका स्वाधीनता बोध अप्रतिम और अक्षुण्ण रहा है। उनका मानना था कि 'श्रेष्ठ साहित्य समाज को बदलता नहीं बल्कि उसे मुक्त करता है।' अपनी रचनाओं में सर्जनशील होकर वह स्वयं तो मुक्त होते ही हैं समाज को भी मुक्त करते चलते हैं।

इतना तो हम जानते हैं कि अज्ञेय ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लिखा है। केवल लिखा ही नहीं है उसमें गहरी पैठ भी बनाई है। शुरूआत वह कवि के रूप में करते हैं और जीवन के अंतिम समय तक कविता ही उनकी संगिनी बनी रहती है। कथा–साहित्य जो उन्होंने लिखा उसमें उनका अंतिम उपन्यास 'अपने–अपने अजनबी' 1961 में प्रकाशित होता है। बाद के दो उपन्यास 'बीनू भगत' और 'छाया–मेखल' अपूर्ण ही रह गए, जिन्हें उनके मरणोपरांत सन् 2000 में प्रभात प्रकाशन, दिल्ली से इला डालमिया के सहयोग से प्रकाशित किया गया। 1954–1955 के बाद उन्होंने कहानियाँ लिखनी भी छोड़ दी। क्या कारण रहा कि गद्य की राह उन्होंने छोड़ दी और अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने कविता के ही मार्ग को चुना? जबकि गद्य में जीवन के किसी भी अंग पर विस्तार से लिखा जा सकता है। 'स्वाधीनता' जो उनकी सभी रचनाओं का अनिवार्य अंग है, कहानियों–उपन्यासों आदि में उसे आधार बनाकर आगे भी लेखक कुछ नया कार्य कर सकता था। कविताओं में भी शुरू से अंत तक उन्हौंने जो भी रचा है वह एक

ही 'बेसिक' सवाल 'मुक्ति' का क्रमिक विकास जान पड़ता है। क्या कथा–साहित्य में भी उनका मूल प्रश्न यही है? इस अध्याय में हम यह भी जानेंगे कि कविताओं और कथा–साहित्य में उनका 'मुक्ति' संबंधी जो दृष्टिकोण सामने आता है वह एक ही तरह का है या उसमें कुछ विभिन्नता है।

अज्ञेय के उपन्यासों में पहले से चली आ रही परिपाटी से इतर एक अलग ढंग का प्रयोग दिखाई पड़ता है। ये प्रयोग संवेदना और शिल्प दोनों ही स्तरों पर होता है। 'शेखर : एक जीवनी' आत्मकथात्मक ढंग का उपन्यास है। प्रेमचन्द और उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारें ने कथा–साहित्य में 'घटना' पर विशेष बल दिया है, अज्ञेय और जैनेंद्र जैसे साहित्यकारों ने व्यक्ति के 'सरल सामाजिक यथार्थ' की जगह उसके 'जटिल सामाजिक यथार्थ' के चित्रण को प्रमुखता दी है। उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक प्रविधि का उपयोग करते हुए 'चरित्र' के अंतर्जगत को व्यक्त करने का प्रयास किया है। अज्ञेय के कथा–साहित्य को यदि हम गौर से देखें तो पाएँगे कि लेखक वहाँ व्यक्ति के विकास में आंतरिक प्रक्रियाओं, द्वंद्वों, तनावों, विरोधाभासों की छानबीन करता चलता है। इन सबके बीच 'मुक्ति' या 'स्वाधीनता' का सवाल अनुस्यूत है। 'शेखर : एक जीवनी (भाग एक 1941, भाग–2, 1944) और नदी के द्वीप (1951) दोनों में पीड़ा और प्रेम के माध्यम से, उनसे व्युत्पन्न सर्जनात्मक ऊर्जा के बीच से व्यक्तित्व की परिपूर्णता स्वायत्त करने की चेष्टा हुई है। पीड़ा और प्रेम कैसे व्यक्तित्व को मुक्त बनाते हैं यही उपन्यासकार की जिज्ञासा का मुख्य क्षेत्र है।'[2]

तीसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' (1951) पिछले दोनों उपन्यासों से अलग है। वहाँ अज्ञेय का वैचारिक पक्ष अधिक प्रबल है, उनकी दृष्टि अधिक परिपक्व है। 'शेखरः एक जीवनी' में अज्ञेय एक जगह लिखते हैं– 'व्यक्तित्व की संपूर्ति–अपूर्ति की कहानी कहना रचना का मुख्य उद्देश्य है।' तात्पर्य यह कि संपूर्णता की खोज ही मुक्ति की खोज है। व्यक्तित्व की इस परिपूर्णता के यत्न को खंडित करने वाला तत्व मृत्यु या उसका त्रास माना गया है। 'अस्तित्ववादी' दर्शन ने इसको और पुष्ट

किया है। इस दर्शन का तो सार ही यही है कि मृत्यु जीवन को अर्थहीन बनाती है। पश्चिम के इस दर्शन के विपरीत अज्ञेय ने इस उपन्यास में यह प्रतिष्ठित किया है कि नश्वरता का भाव ही जीवन को सर्जनात्मक और अर्थवान बनाता है और इसलिए मृत्यु मनुष्य की परिपूर्णता में बाधक नहीं वरन् उसे निष्पन्न करने में सहायक है।

कहानियों की ओर रूख करें तो हम देखेंगे कि उनकी आरंभिक कहानियां क्रांतिकारी जीवन से संबंधित अधिक हैं। उनमें मनुष्य के आंतरिक बनावट का चित्रण इतना नहीं है जितना और जैसा उनकी बाद की कहानियों में मिलता है। 'विपथता', 'हारिती', अकलंक जैसी कहानियों की बनावट और 'हीली बोन की बत्तखे', 'ग्रैंगीन' आदि कहानियों की संवेदना और बनावट में हम पर्याप्त अंतर पाते हैं। इन कहानियों के बीच गहरे पैठ कर हम पाते हैं कि इनकी अंतर्वस्तु का अंतर्भाष्य स्वातंत्र्य की खोज और लालसा के ही विभिन्न रूप समाए हुए है।

4.2 अज्ञेय के उपन्यासों में मुक्ति का स्वरूप

'शेखर : एक जीवनी' दो भागों में लिखा गया आत्मकथात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास में और अज्ञेय के जीवन में काफी साम्य हम पाते हैं। शेखर की खोज 'स्वातंत्र्य की खोज है और अज्ञेय के समस्त रचनाकर्म और जीवन में भी सबसे बड़ा सवाल' 'मुक्ति' का सवाल ही है।

अज्ञेय अपने एक निबंध में लिखते हैं कि स्वाधीनता की सच्ची कसौटी 'मम्' नहीं 'ममेतर' है। स्वाधीनता के योद्धा को सबसे पहले एक करूणासम्पन्न स्वाधीन कर्मी होना होगा, जो दूसरों की स्वाधीनता के लिए अपनी स्वाधीनता का बलिदान करने को सदैव प्रस्तुत रहे। दरअसल अज्ञेय के अनुसार 'मैं' यानि व्यष्टि जब स्वतंत्र और परिपूर्ण है तभी वह 'ममेतर' यानि समष्टि को भी मुक्त और स्वस्थ बना सकता है। 'मैं' की मुक्ति ही केवल उनका लक्ष्य नहीं है, उनका स्पष्ट कहना है कि व्यष्टि की परिपूर्णता समष्टि के बिना संभव नहीं है। 'शेखर : एक जीवनी', शेखर के

क्रमागत विकास की कहानी है, इस उपन्यास के केन्द्रीय भाव को शेखर के उस भावोद्‌गार से समझा जा सकता है जिसमें वह कहता है– ''जीवन झरने जैसा होना चाहिए, शुभ्र, स्वच्छ, संगीतपूर्ण, अरूद्‌ध, निरंतर सचेष्ट और प्रगतिशील, घरबार के बंधनों से मुक्त और सदा विद्रोही।''[3] शेखर की यह उक्ति उस समय की है जब वह मात्र दस साल का है।

अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' की परिकल्पना तीन भागों में की जिसमें पहला 1941 में छपकर आया और दूसरा भाग 1944 में। तीसरे भाग को उन्होंने छपवाया नहीं। उनका कहना था– ''तीसरा भाग लिख जाकर ही अकारथ भी हो गया है, क्योंकि अलग होकर जिसे लिख पाया, लिख डालकर उससे और अलग हो गया–और यह अलगाव अब इतना अधिक हो गया है कि पुस्तक को छापने देते संकोच होता है। तभी का तभी छप जाता तो एक बात थी, अब दूसरी बात है।... आज जब मुझे लगता है कि पहले की अभिव्यक्ति अधूरी है– यानि आज की दृष्टि से अभिव्यक्ति नहीं है, तो सहृदय समाज के आगे मैं क्या प्रकाशित करूँ–संप्रेषण किसका करूँ? यही आज की मेरी समस्या है– मेरी कला की समस्या।''[4] दोनों जो भाग लिखे गए दो स्वतंत्र उपन्यासों का अनुक्रम हैं। इस दृष्टि से दोनों को अलग–अलग उपन्यासों के तौर पर भी पढ़ा जा सकता है।

इस उपन्यास का वस्तु विन्यास बहुत सधा हुआ है, गठन बहुत चुस्त है। पहला भाग शेखर के बाल्यावस्था से लेकर युवा होने तक की कहानी कहता है। प्रथम भाग उत्थान में प्रवेश के अतिरिक्त चार खंड हैं। (1) उषा और ईश्वर, (2) बीज और अंकुर (3) प्रकृति और पुरूष (4) पुरूष और परिस्थिति। दूसरे भाग संघर्ष के भी चार खंड हैं– (1) पुरूष और परिस्थिति (2) बंधन और जिज्ञासा (3) शशि और शेखर (4) धागे, रस्सियाँ, गुंझर। अध्यायों के नामकरण से ही उसके भीतर के 'कंटेंट' का अंदाजा पाठक लगा सकता है।

शुरूआत वहाँ से होती है जहाँ शेखर कालकोठरी में मृत्यु के आसन्न संकट से घिरा हुआ बैठा है। घोर निराशा के क्षणों में वह सोचता है– ''अगर यही मेरे

जीवन का अंत है, तो उस जीवन का मोल क्या है, अर्थ क्या है, सिद्धि क्या है– व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, मानव के लिए?''[5] ऐसी स्थिति में वह अब तक के अपने जीवन का प्रत्यावलोकन करता है। जीवन–यात्रा के पथ में जो पहाड़, तराइयाँ, नदी–नाले, झाड़–झंखाड़, आँधी–पानी आए उसकी ओर मुड़ कर देखता है एक अनासक्त द्रष्टा की तरह। उसे बनाने में जिन लोगों का जिन परिस्थितियों का योगदान रहा वह उनको याद करता है। इस क्रम में उसे सबसे पहले याद आती है शशि। 'शशि' जो मोक्षदा है, जो असल मायने में शेखर को, उसके विद्रोही व्यक्तित्व को एक दिशा देती है, मुक्ति का सही–अर्थ समझाती है, उसकी रचनात्मकता को प्रेरित करती है। शेखर जो पैदा होते ही एक रूढ़ि में बंध गया, बहुत से सुदृढ़ बंधन उसके जीवन में छा गए, आरंभ से ही विद्रोही स्वभाव का रहाँ बंधनों पर, रूढ़ियों पर सवाल उठाता रहा, भीतर के अधूरेपन को पूरा करने के लिए नई राहें तलाशता रहाँ शशि ने उसकी राहों को रचनात्मक दिशा दिखाई। शेखर के 'मम्' को 'ममेतर' से जोड़ने का कार्य किया। शेखर कहता है– ''शक्ति मेरे पास रही है पर मैंने उसे जाना नहीं, आजीवन मैं विद्रोही रहा हूँ, पर बराबर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूँ एक दिन तुम्हारे ही मुख ने मुझे यह दिखाया– बताया कि लड़ना स्वयं साध्य नहीं है, लड़ने के लिए लड़ना निष्परिणाम है, कि विद्रोह किसी के विरूद्ध होना चाहिए–ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, अपना–आप, प्यार, कुछ भी हो, जिसके विद्धध विद्रोह किया जा सके...तब मेरे विद्रोह को धार मिली।''[6] शशि के माध्यम से लेखक प्रेम को भी नए ढंग से परिभाषित करता है। प्रेम वह है जो बांधता नहीं वरन् मुक्त करता है। एक ऐसा बंधन है जो परवाज़ देता है, एक दूसरे की संभावनाओं को तलाशने और परिपूर्ण बनाने में सहयक होता है। शशि कहती है– ''किसी भी एक व्यक्ति को इतना प्यार नहीं करना चाहिए कि जीवन में किसी दूसरे उद्देश्य की गुंजाइश न रह जाए– कि जीवन एक स्वतंत्र इकाई है और यदि वह बिल्कुल पराधीन हो जाए तो यह कला नहीं है, क्योंकि कला के आदर्श से उतरकर है।''[7]

शशि के बाद उसे याद आती है अपनी बहन सरस्वती जिसके प्रति बचपन में उसका लगाव आकर्षण मिश्रित हैं। शारदा की भी स्मृति आती है। फिर मां के प्रति धिक्कार की भावना जगाने वाली घटना याद आती है। आगे वह निहिलिस्टों, विद्रोहियों, क्रांतिकारियों के बारे में सोचने लगता है। दरअसल शेखर की स्वतंत्राकामी चेतना और क्रियाकलापों के मूल में जो तत्व है, वह है उसकी विद्रोही भावना। वस्तुतः विद्रोह उसके इन सभी उपक्रमों का अंकुर है। शेखर का मानना है कि– ''विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं।' विद्रोहबुद्धि परिस्थितियों के संघर्ष की सामर्थ्य, जीवन की क्रियाओं से परिस्थितियों के घात–प्रतिघात से नहीं निर्मित होती। वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्टन नहीं, उसका अभिन्नतम अंग है।''[8] लेकिन साथ ही शेखर विद्रोही भावना के फलने–फूलने में समाज के योगदान की अस्वीकार भी नहीं करता है– वह कहता है–''मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि कार्ल मार्क्स ही उत्पन्न हुआ था याकि शेली ने संसार से कुछ नहीं सीखा था कि त्रात्स्की अपने संसार द्वारा उतना ही निर्मित नहीं हुआ, जितना की उसने संसार को बनाया।''[9]

शेखर के विद्रोह की प्रकृति क्या है? इसपर आलोचकों के कई मत रहे हैं। अनेक आलोचकों का मानना है कि शेखर निहिलिस्ट है। डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं– ''शेखर रोमांटिक विद्रोही नहीं, निहिलिस्ट विद्रोही है। रोमांटिक विद्रोह के नकार के पीछे एक सामाजिक आध्यात्मिक उद्देश्य होता है, पर निहिलिस्ट विद्रोही केवल विरोध जानता है–अमोघ और निरंध्र निषेध।...अमोघ निषेध या अस्वीकार से यह अपनी अस्मिता की पहचान कराता हैं।''[10] इसी से मिलता–जुलता दृष्टिकोण विजयमोहन सिंह का है। वे लिखते हैं ''शेखर यदि सही अर्थों में क्रांतिकारी होता तो उसके लेखक का विकास अमूर्त समस्याओं की दिशा में नहीं होता। नियतिवादी रोमांटिक विद्रोही ही रहस्यमयता, अलौकिकता, आध्यात्मिकता और इन सबके माध्यम से अमूर्तता की ओर मुड़ता है।''[11]

'शेखर : एक जीवनी' की तुलना तुर्गनेव के 'फादर्स एंड चिल्ड्रेन' से की जाती रही है। तुर्गनेव के 'बाजारोव' की तुलना शेखर से किए जाने पर अज्ञेय कहते

हैं कि– ''बाजारोव रूसी निहिलिज़्म की देन हैं। तुर्गनेव निहिलिस्ट नहीं था लेकिन उसने युग की प्रवृत्तियों को पहचाना और विश्लेषण करके इस प्रवृत्ति का चरम रूप सम्मुख रख दिया। मैं भी आतंकवादी दल से सम्बन्ध रखकर भी 'कनविंस्ड' आतंकवादी नहीं रहा, पर मुझे इसमें बड़ी दिलचस्पी रही कि आतंकवादी का मन कैसे बनता है। शेखर की रचना इसी से आरम्भ हुई।... बाजारोव नियतिवादी है, शेखर नियतिवादी नहीं है।''[12] बच्चन सिंह का कथन अज्ञेय की इस बात को पढ़कर गलत लगने लगता है। उनका यह आरोप कि शेखर एक निहिलिस्ट विद्रोही हैं, जो केवल विनाश जानता है, निर्माण की चिंता नहीं करता–एक अतिवादी कथन है। शेखर परम्परागत विश्वासों का विरोध करता है, अपनी पिछली पीढ़ी से, उसके मूल्यों–मान्यताओं से संघर्ष करता है किन्तु उसका अंतिम लक्ष्य एक स्वस्थ और बंधनमुक्त समाज का निर्माण ही है विनाश नहीं। शेखर को समष्टि की भी चिंता है। वह कहता है– ''मेरे व्यक्तिगत जीवन में मानव के समष्टिगत जीवन का भी इतना अंश है कि समष्टि उसे समझ सके और उसमें अपने जीवन की एक झलक पा सके।''[13]

जहाँ तक रोमांटिक विद्रोही होने का सवाल है, डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं ''शेखर का विद्रोह, यों सामान्यतः रोमांटिक प्रकार का ही है, पर उसमें राग के अतिरेक से अलग होने चेष्टा भी दिखाई देती है।''[14] यही कारण है कि बाद में जाकर शेखर शशि से कहना है– ''मैं जो कुछ लिखता हूँ , उबलकर लिखता हूँ, पर मुझे लगता है कि यह अच्छा नहीं है। बल्कि सभी यह भी लगता है कि उद्देश्य भी उसमें नहीं है क्योंकि वह उबाल है, और उद्देश्य के लिए तो नक्शा बनाकर संयम से चलना चाहिए।''[15] उबाल की जगह संयम को तरजीह देना यह निश्चित ही रोमांटिसिज़्म से उठने का प्रयास है। अगर इस उपन्यास क्रम का तीसरा भाग प्रकाश में आता तो संभवतः हम उसमें अधिक परिपक्व और गैररोमांटिक शेखर से रूबरू हो पाते। दूसरा भाग जहाँ खत्म होता है वहाँ शेखर अपनी युवावस्था में प्रवेश करता दिखाई पड़ता है। उसकी उम्र बीस–इक्कीस वर्ष से ज्यादा नहीं है। उस वय में अमूमन हर युवा के मन में अपने आस–पास की चीजों, समस्याओं को लेकर एक

भावुकतापूर्ण रोमांटिक दृष्टि रहती है। वह बदलाव की बात सोचता है और बदलाव के लिए सबकुछ उलट–पलट कर देने की बात सोचता है। शेखर के पिता का शेखर से एक जगह संवाद है जिसमें वे कहते हैं– ''जब मैंने पढ़ाई समाप्त की, तब हम तीन चार लड़कों ने भी ऐसा व्रत लिया था।... तुम व्यवस्था बदलने की बात कहते हो, हमारे उद्देश्य बहुत स्पष्ट थे। अंग्रेजों को निकाल बाहर करना और हिन्दू राष्ट्र को संगठित करके विशुद्ध आर्य संस्कृति की पुनर्स्थापना... चार साल तक हम लोगों ने भीख माँग–माँगकर प्रचार किया... अंग्रेजों के विरूद्ध हमने जिना विष मन किया– आज के आतंकवादी क्या करेंगे। पर अंत में–सब निष्फल।''[16] इस उद्धरण के यहाँ देने का तात्पर्य इतना ही है कि युवावस्था समय ही ऐसा होता है जिसमें हर समस्या को व्यक्ति भावुक ढंग से देखता है और उसे वैसे ही निपटाने का प्रयास करता है।

इस प्रवेश खंड के बाद प्रथम भाग के प्रथम अध्याय 'उषा और ईश्वर' में शेखर अपने शैशव के आरंभ का चित्रण करता है, उन अनुभूतियों का चित्रण करता है जो प्रत्येक मानव के जीवन का अनुशासन करती हैं– अहंता यानि स्वयं की महत्ता सिद्ध करना, भय और सेक्स। शेखर जन्मजात विद्रोही है। बाल्यकाल से ही उसके मन में जिज्ञासु भाव भरा हुआ है। जिस चीज़ में रहस्य है, आकर्षण है वह उसे आकर्षित करती है। बालकों का मन यूँ भी जिज्ञासु होता है। उनके मन में तमाम तरह के प्रश्न होते हैं। शेखर भी अलग नहीं है। उसके मन में भी प्रश्न आते हैं जिसका मनोनुकूल उत्तर न पाकर वह लगातार एकांत की ओर उन्मुख होता जाता है। उसके मन में प्रश्न आता है– ईश्वर है कि नहीं है? साथ खेलने बाली फूलाँ के साथ वह उसके घर क्यों नहीं जा सकता, वह उनके परिवार से नीच क्यों है? वह 'टाइप' नहीं बनना चाहता, इसलिए विधिवत स्कूली शिक्षा उसे रास नहीं आती। स्वातंत्र्य की चाह की अभिव्यक्ति उसके बाल्यकाल की कई घटनाओं में देखी जा सकती है। स्कूली शिक्षा से उसका विद्रोह, अपने कॉन्वेंट स्कूल की सिस्टर की उपेक्षा इसी के परिचायक हैं। शेखर को कोई मास्टर पढ़ा नहीं पाता। बिना किसी दबाव और बंधन के वह जितना सीखता है, उसी के लिए जब विधिवत

पढ़ाई की व्यवस्था की जाती है तो वह अनेक माध्यमों से उसका विरोध करने लगता है। शेखर कहता है– ''शिक्षा देना संसार अपना सबसे बड़ा कर्तव्य समझता है, किन्तु शिक्षा अपने मन की शिक्ष्य के मन की नहीं। क्योंकि संसार का आदर्श एक व्यक्ति नहीं है, एक टाइप है, और संसार चाहता है कि सर्वप्रथम अवसर पर ही प्रत्येक व्यक्ति को ठोंक–पीटकर, उसका व्यक्तित्व कुचलकर, उसे टाइप में सम्मिलित कर लिया जाए, उसे मूल रचना न रहने देकर एक प्रतिलिपि मात्र बना दिया जाए।''[17] शेखर को लगता है कि वह बंधनों के संसार का व्यक्ति है इसलिए वह अपने आसपास के संसार विमुख होकर एंकातप्रिय तो होता ही है प्रकृति–प्रेमी भी होता जाता है। वह पाता है– ''उसके संसार के अलावा एक और संसार है, जिसमें पक्षी रहते हैं, जिसमें स्वच्छंदता है, जिसके विश्वास है, स्नेह है, जिसमें सोचने की या खेलने की अबाध स्वतंत्रता है। जिसका एकमात्र नियम है, वही होओ जो कि तुम हो।''[18]

बचपन के उसके देखे गए दृश्यों में जंगल, झरना, प्रपात, तोते का मुक्त होकर उड़ जाना आदि स्वच्छंदता का प्रतीक बनकर आते हैं। उसे लगता है वह एक समाज रूपी पिंजरे में रह रहा है– ''और आज भी इस पिंजरे में बद्ध होकर वनों का ध्यान करता है, जहाँ उस तोते की तरह, वह भी पंख नहीं फड़फड़ता कि पिंजरे से चोट न लगे। क्योंकि वह भी अनुभव से सीख चुका है कि चोट लगती है। पर क्या उसकी आत्मा भी बद्ध है, क्या उसके भी–चोट लग सकती है, क्या वह भी पंख नहीं फड़फडा सकती?... वह आत्मा विचरती है अपने वनों में, जहाँ उसका स्वर्ग है, अबाध ...।''[19] एक बालक के मन का इतना गहरा मनोविश्लेषणात्मक चित्रण हिंदी उपन्यास में इसके पहले नहीं हुआ था। बचपन की घटनाओं का बालक शेखर के मन पर ऐसा प्रभाव रहा जिसने एक स्वतंत्र चेता व्यक्तित्व का निर्माण किया। व्यक्ति का निर्माण एक दिन में नहीं होता, उसके पीछे एक लंबी प्रक्रिया होती है। शेखर स्वातंत्र्य को खोज किशोरावस्था में 'मम्' से 'ममेतर' की ओर उन्मुख होती है और इसलिए अधिक व्यापक सामाजिक भूमि पर प्रवेश करती है। जिसे उसकी मां 'छोटी जात' कहकर इशारा करती हैं उसके प्रति संवेदनात्मक भाव उसके मन में

उत्पन्न होता है– ''वह दूर बैठे उस विधवा की पूजा तक करने लग गया, जो इस बात का अभिमान कर सकती है, फूलाँ भी उसके लिए एक पददलित देवी सी हो गई।''[20] वह समझता है कि लोगों की आत्माएं जात–पात के भेदभाव को लेकर इस तरह से जकड़ी गई हैं कि वे स्वयं नहीं जानते, वे किस श्रृंखला में बंधे हैं, और स्वयं उसकी कड़ियां पक्की करने में सहायक होते हैं। उनका रसोइयाँ जो ब्राह्मण था उसके छूत–अछूत का नियम इतना पक्का था कि उसके कारण उसे अपनी जीविका तक छोड़ने से गुरेज नहीं हुआ। एक और प्रसंग उसे याद आया उस समय का जब गोमती में बाढ़ आई थी और वह अपने पिता के साथ घूमने निकला था। उसने देखा जिस ओर गरीबों और दलितों की बस्ती है उस ओर कोई भी व्यापारी सामान बेचने नही आया है। उसे यह एहसास हुआ कि 'दुर्गन्धमय झोपड़ियों में रहने वाले बच्चे स्वर्ग खिलौने हैं जिनसे विधि खेलती हैं।' ये सभी अनुभव उसके भीतर सामाजिक भेदभाव और बुराइयों को और स्पष्ट करते चलते हैं और वह सामाजिक मुक्ति के विषय में भी सोचने लगता है। 'बीज और अंकुर' नामक दूसरे खंड का आरंभ शेखर की निरूद्देश्य भटकन के आलेखन से होता है। देश में असहयोग की लहर आने पर उसे महसूस होता है कि उसका देश पराधीन है। गांधी जी की जयकार, विदेशी कपड़ों की होली, अंग्रेजी से घृणा आदि उसकी स्वतंत्रताकामी चेतना को ही परिलक्षित करते हैं जिसके लिए वह पिटता भी है।

सौंदर्य का क्षेत्र जो अबतक शेखर के जीवन में नहीं आया था उससे भी वह रूबरू होता है। 'गति' का सौंदर्य उसे आकर्षित करता है। अजायबघर में 'महावीर जिन' की नंगी मूर्ति वह देर तक देखता ही रह जाता है। उसके सामने नग्नता का सत्य उजागर होता है। इन्हीं वर्षों में उसे यह भी एहसास होता है कि वह अपनी बड़ी बहन 'सरस्वती' के प्रति आकर्षित है–''कब वह सरस्वती नहीं रही, बहिन हो गई कब उसे शेखर ने 'सरस' का नाम देकर प्यार से अपने मन में दोहराया, यह उसे याद नहीं।''[21] सौंदर्य कैसे मुक्त करना है इसका एहसास उसे हुआ। श्रीनगर के एक पुराने खंडहर से डल झील के दर्शन से सम्मोहित होकर सब कपड़े उतार फेंककर वह कैवल्य का अनुभव करता है। यहाँ द्वितीय खंड समाप्त होता है।तीसरा

खंड है 'प्रकृति और पुरूष' है। शेखर किशोर वय की ओर बढ़ रहा है। उसके शरीर में कई तरह के परिवर्तन हो रहे हैं। शरीर की इन माँगों का वह अनुभव तो करता है किन्तु समझ नहीं पता। सरस्वती की शादी की बात से वह सन्न रह जाता है। शेखर को अपना जीवन बंधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं लगता। उसे लगता है उसकी दशा उस तितली की तरह है जो जब कभी कमरे के भीतर आ फंसती है, तब पहले–पहल वह खिड़की के या किवाड़ के शीशों से, जिनसे प्रकाश आ रहा होता है और जिन्हें वह बाहर की राह समझती है, जा–जा टकराती है, फिर हारकर कमरे के चक्कर लगाती है, और फिर वहीं लौट आती है, ओर शीशों पर सिर पटकती विवश पंख फड़फड़ाती है और गिर–गिर कर भी नहीं गिरती। तितली की ही तरह–''मुक्ति की खोज में पहले वह उन वस्तुओं से उलझा, जो स्थूल थीं, जिन्हें वह देख सकता था, और उनसे हारकर वह कल्पना के क्षेत्र में गया वहाँ से निराश होकर वह फिर यथार्थता में, स्थूल और प्रत्यक्ष में लौट आया।''[22] इसी समय उसे शारदा मिलती है जिसके लिए वह प्रेम का अनुभव करता है। वह शांति से मिलता है और उसके प्रति भी आकर्षित होता है। वह सोचता है 'यदि वह शारदा से प्रेम करता है, तो शारदा के अतिरिक्त किसी भी स्त्री का विचार भी उसे नहीं होना चाहिए' पर बावजूद इसके ऐसे विचार उसके मन में आते हैं। ऐसे ही समय वह 'चेस्टिटी' या 'सतीत्व' के प्रश्नों से जूझता है। शेखर यह भी समझता है कि 'सत्य उनके लिए है, जिनमें उसे सह लेने की शक्ति है।' और उस दिन उसे महसूस होता है, वह संपूर्ण है, मुक्त है और पुरूष है। बाल्यावस्था में जिन सवालों का जवाब उसे नहीं मिल पाता था और जिनके कारण वह स्वयं को बँधा महसूस करता था, बाद की अवस्था में उनके ज्ञान ने उनके सत्य ने उसे मुक्त किया।

चतुर्थ खंड 'पुरूष और परिस्थिति' में मद्रास में शेखर के कॉलेज के दिनों का वर्णन है। वह पंद्रह वर्ष का हो चुका है। कॉलेज में वह कुमार नामक लड़के से मिलता है। 'उसके विश्वासी हृदय ने कुमार को अपना भाई मान लिया था।' कुमार के प्रति शेखर समलैंगिकता का अनुभव करता है। कुमार के धोखे से उसका मोहभंग हो जाता है।

आधुनिक साहित्य में स्त्री, दलित मुक्ति पर धड़ल्ले से बात हुई है। इन दिनों समलैंगिकता पर भी खूब चर्चा होती है और समलैंगिकों के अधिकारों और उनके प्रेम की आज़ादी के सवाल को उठाया जा रहा है। अज्ञेय ने 'शेखरः एक जीवनी' के माध्यम से समाज की तथाकथित नैतिकताओं पर बहुत पहले ही प्रहार कर दिया था। अपनी बहन के प्रति आकर्षण का भाव, मौसेरी बहन के प्रति आकर्षण भाव, कुमार के प्रति समलैंगिक भाव, माँ के प्रति घृणा का भाव– ये सभी भाव जो मर्यादाओं में बँधी भारतीय नैतिकता और सभ्यता के लिए चोट के समान थी, अज्ञेय ने इनका चित्रण बड़े ही सूक्ष्म ढंग से किया है। उनकी बेबाकी के कारण इस किताब की प्रतियां जलाई गई, अज्ञेय पर कई साहित्यिक हमले हुए, उन्हें व्यक्तिवादी और समाज से कटा हुआ लेखक कहा गया।

कॉलेज में ही वह ब्राह्मणों के हॉस्टल का कमरा छोड़कर दलितों के हॉस्टल में रहने जाता है। शेखर को वही अछूत अपने भाई बंधु लगने लगते हैं। अपने स्वातंत्र्य की खोज में वह व्यक्ति के साथ समाज की भी मुक्ति चाहता है। वह कहता है 'व्यक्ति का हित विश्व के हित से अगल नहीं होना चाहिए।' यहीं वह अपने दूसरे मित्रों के साथ मिलकर 'एंटिगोनम क्लब' की स्थापना करता है और उसके द्वारा युवाओं के भीतर दुनिया को बदलने का उत्साह पैदा करता है। वह दलित–मुक्ति और स्त्री–मुक्ति के लिए प्रयास करता है। दलित बस्ती में वह बच्चों को पढ़ाता है। वह कहता है कि– ''नारी मूल पाप–भावना है, महामाया है, पतन है– यह जो नारीत्व को ही पापात्मा मानने का संगठित षड्यंत्र है, इस संगठित षड्यंत्र की दीवार को हमें तोड़ना होगा।''[23]

यहीं वह शारदा से मिलता है। 'शारदा' जो उसके वयः संधि का प्यार थी और जो उससे दूर चली गई थी। उसे महसूस होता है कि उसके और शारदा के मिलने का बड़ा शालीन ढंग से विरोध किया जा रहा है। उसे प्रेम में सामाजिक बंधनों, जकड़नों का भी अंदाज़ा लगता है। शारदा से उसका संबंध–विच्छेद हो जाता है और वह उसके देश से विदा लेता है।

दूसरा भाग शेखर के 'संघर्ष' और निर्माण की कथा कहता है। प्रथम भाग 'उत्थान' में शेखर के जीवन के प्रथम सत्रह वर्षों की कथा चार खंडों में आ जाती है। उत्थान काल के अंतिम अध्याय में पुरूष का परिस्थितियों से मुकाबला शुरू हो जाता है। वह 'शारदा' के देश से 'शशि' के देश लाहौर में चला आता है। शेखर सुनिश्चित करता है, वह भागेगा नहीं टिक कर लड़ेगा वह कहता है– ''जो युद्धमुख से भागता है, अपनी पराजय से भागता है, उसके लिए कदम–कदम पर और युद्ध हैं, और पराजय है, जब तक वह जान न ले कि अब और भागना नहीं है, टिक कर लड़ने न लगे।''[24] यहाँ वह कई ढंग के लोगों से मिलता है, और अंत में उसे कहना पड़ता है– 'पंजाब का विद्यार्थी जीवन इतना पतित है, मैं नहीं जानता था।' यहाँ वह मिस मणिका से भी मिलता है जो उसे प्रतिभाशाली तो लगती है किंतु वह अनुभव करता है कि मिस मणिका में प्रतिभा को संयत करने की दृढ़ता नहीं है। उसे लगता है मणिका का ज्ञान जितना गहरा है, शक्ति उतनी ही कम। शेखर कहता है– ''मणिका की–उस श्रेणी की आत्मा रोगग्रस्त थी, किन्तु थी आत्मा, ओर वह रोग भी एक उसका अकेला नहीं था वह आधुनिक आत्मा का रूझान ही था।''[25] यहाँ लेखक आधुनिकता के उस पक्ष की ओर इशारा करता है, जो बरगलाने का काम करती है।

ऐसा सौंदर्य जो संपूर्ण करता हो, मुक्त करता हो– उसकी खोज में शेखर कश्मीर जाता है, किन्तु जो कश्मीर शैशवकाल में उसे सुंदरता से परिपूर्ण लगा था उसे अब आकर्षित नहीं कर पाया। श्रीनगर में वृक्षों की कठोर शालीनता और अति–व्यवस्था देखकर उसे लगा मानों सारे शहर का ढाँचा किसी गणितज्ञ द्वारा परिकल्पित किया गया हो। वह सोचता है–''क्या सौंदर्य कुछ है भी? क्या रस की कल्पना, आसन्न रसलब्धि की भावना ही को सौंदर्य नहीं कह देते? 'इससे मैं अभी–अभी सुख पाऊँगा', इस चिंता में ही व्यक्ति इतना डूब जाता है कि सुख पाने से पहले ही उसे रसबोध हो जाता है, तब वह कहता है, 'कितनी सुंदर? वासना की अमूर्त के द्वारा पूर्ति का नाम ही सौंदर्य है न...।''[26] शेखर मानता है कि 'सौंदर्य और बुद्धि का सम्मिलन कभी बन्ध्य नहीं होता।' यही कारण है कि कश्मीर का एक पैमाने में बंधा हुआ सा सौंदर्य उसे रास नहीं आता और तारों भरी रात के बीच जब

झील का मुक्त सौंदर्य, चिंरतन सौंदर्य वह देखता है तो उसके बाद और कुछ देखने का सामर्थ्य भी रहना उसे असंभव सा जान पड़ता है।

शशि के पिता के देहावसान के बाद शेखर पुनः शशि से मिलता है। शशि अपने अट्ठारहवें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। छुट्टियां समाप्त कर वहाँ से जाते समय शेखर यह अनुभव करता है वह और शशि एक दूसरे से परस्पर बातचीत के क्रम में निकट आ गए थे। कॉलेज में जब राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के लिए स्वयंसेवकों की माँग हुई तब शेखर ने भी अपना नाम लिखवा लिया। शेखर को स्वयंसेवक दल का मातहत अफसर बनाया जाता है। वहाँ एक सी॰आई॰डी॰ अफसर को पीटने के मामले में, जिसमें वह शामिल भी नहीं था, उसे पकड़कर हवालात में बंद कर दिया जाता है। जीवनी के दूसरे भाग के दूसरे अध्याय 'बंधन और जिज्ञासा' में शेखर के जेल के दिनों का वर्णन है। जेल में आकर उसे सही मायने में स्वाधीनता का अर्थ समझ में आता है और वह स्वयं को कोसता है कि– ''क्यों अब तक वह स्वाधीनता के प्रति उदासीन रहा; क्यों नही अब से पहले स्वाधीनता उसके लिए भूख–प्यास और श्वास–गति की तरह एक अंत्यंत आवश्यक, जीवन–मरण की सी महत्वपूर्ण वस्तु बनी...।'' [27] स्वाधीनता को एक वृहत्तर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में वह सोचता है। अभी तक उसके लिए केवल व्यक्ति स्वातंत्र्य की लड़ाई रही थी, किन्तु जेल आकर जब उसे सच्चे अर्थों में स्वाधीनता का अर्थ पता चला, उसके अब तक के सारे पैमाने निकम्मे पड़ गए। यहाँ उसके सामने प्रश्न ही प्रश्न थे। हिंसा और अहिंसा की अनिवार्यता का प्रश्न उसके सामने आता है, जिसपर वह जेल के अपने साथियों– विद्याभूषण, बाबा मदनसिंह आदि से चर्चा करता है। सत्य और मिथ्या के सवालों से वह जूझता है। बाबा मदनसिंह और मुहम्मद मोहसिन का परिचय उसकी जीवनदृष्टि को प्रभावित करता है।

अज्ञेय के यहाँ सांप की कहानी कई बार आई है। उन्होंने 'आदम की डायरी' के नाम से जो कहानी लिखी है उसमें भी वह सांप आता है और अपने ललित निबंधों में भी उन्होंने उसपर एक निबंध लिखा है। यहाँ भी वह उस सांप की

कहानी कहते हैं, वह चिरंतन साँप जो ज्ञान को अपने गुंजलक में लपेटे बैठा हँसता रहा है। वह साँप तब हारता है जब मानव 'जिज्ञासा' करना सीखता है। मानव में जिज्ञासा है, तभी वह संसार को गति दे पाता है। मनुष्य को उसकी निरंतर जानने की इच्छा और ज्ञान ही पूर्ण बनाता है, मुक्त करता है।

उपन्यास के तीसरे खंड 'शशि और शेखर' में शेखर और शशि के बढ़ते जाते स्नेह संबंधों का आलेखन है। जेल से मुक्त होकर वह समाज को बदलने, मुक्त करने के लिए क्रांति करना चाहता है। पुरानी सड़ी हुई मान्यताओं को उलट–पलटकर रख देना चाहता है और इसके लिए वह साहित्य का मार्ग चुनता है। उसका लिखना एक उद्देश्य के लिए है– 'विनाश और पुननिर्माण के लिए'। वह सोचता है– ''जिस समाज को उसे बदलना है, उसी की वह एक स्वतंत्र इकाई है... इसमें शेखर का समूचा आग्रह समाज पर नहीं स्वतंत्र इकाई पर था...। स्वतंत्र होना, इकाई होना, अपने–आपको एक खंड, एक टुकड़ा, अस्तित्व का एक अल्पांश न देखकर समूचा देखना–चाहे वह अकेला कण किंतु संपूर्ण, जिसका एक स्पष्ट वास्तविक रूप है, एक छोटे से अस्तित्व का पृथक् तेजपुंज...।[28] समाज को बदलने के क्रम में, सर्वतोमुखी क्रांति की बात सोचते हुए भी शेखर का आग्रह 'व्यक्ति' पक्ष की ओर अधिक है। उसके अनुसार व्यक्ति अकेला भी बहुमुखी वृद्धि के बीज रोप सकता है। इसी प्रेरणा से वह 'हमारा समाज' नाम की पुस्तक लिखता है।

अर्थ कैसे मुक्ति का साधन हो सकता है यह भी शेखर को समझ आता है– ''साठ रूपये बड़ी चीज़ होते हैं, क्योंकि वह मुक्ति का साधन भी हो सकते हैं... एक घर में जहाँ चारों ओर बल्कि नौ दिशाओं में पड़ोसियों की रूखाई है और ऊपर से पाले की मार। –बंधे रहने के शाप से मुक्ति का साधन, क्योंकि बिना ऋण चुकाये और आगे बढ़ने का प्रबंध किए मुक्ति कहाँ है।''[29] 'सेल्फ़ डिपेन्डेंट होने के क्रम में, समाज को बदलने के क्रम में उसका सामाना उन दुनियावी बंधनों से भी होता है जिसके निराकरण के बिना दुनिया में एक दिन भी गुजारा करना संभव नहीं है और

इस प्रकार उसका लिखा 'हमारा समाज' बड़ी ज़द्दोजहद के बाद साठ रूपये में बिक जाता है।

उपन्यास का चौथा और अंतिम अध्याय है– 'धागे, रस्सियाँ, गुंझर'। अध्याय का नाम ही इसके कंटेट को स्पष्ट कर देता है। शशि घर से निकाल दी जाती है क्योंकि उसके पति को शशि के शेखर से संबंध के कारण, उसका चरित्र गिरा हुआ लगता है। शशि व्याधिग्रस्त है, वह शेखर के साथ रहती है। वह समाज का अभियोग भी सुनते हैं क्योंकि एक शादीशुदा स्त्री का परपुरूष के साथ रहना निकृष्ट कर्म है। भले घर के बच्चे ऐसे लोगों के पास नहीं जाते, लोग उन्हें सशंकित निगाह से देखते हैं, कानाफूसी करते हैं। सभाओं में शशि को लोग अजीब निगाह से देखते हैं। समाज की नैतिकता रूपी यही रस्सियाँ हैं जो व्यक्ति को बांधती है। वह नैतिकता के विषय पर सोचता है– ''हमारी नैतिकता निष्प्राण है, उसका अंतिम प्रमाण कोई जीवित सत्य नहीं है, केवल एक रेखा है, एक निर्जीव और पिटी हुई लीक, जिसके इस पार सत् है उस पास असत्...।''[30] वह कहता है– ''क्यों निषेध नीति का मूल हो–क्यों न नीति इतनी बड़ी हो कि सहज वृत्ति का बहिष्कार करने की बजाय उसे अपने में व्यापृत करले, अपने में सोख ले, लील जाए?''[31]

लखनऊ की संशयात्मक और आक्षेप लगाती हुई निगाहों से दूर वह दिल्ली आ जाते हैं और यहाँ शेखर का संपर्क आतंकवादी दल से होता है। शेखर अनुभव करता है कि वह एक नए जीवन में प्रवेश कर रहा है। शेखर और शशि एक दूसरे के और निकट आते हैं। शशि उसे महत्तर सामाजिक उद्देश्यों के लिए लिखने की ओर प्रेरित करती है। अंत में शेखर के ही सान्निध्य में उसकी मृत्यु हो जाती है। उपन्यास का प्रथम भाग शशि की स्मृति से आरंभ होता है और दूसरे भाग का अंत उसकी मृत्यु से होता है। शेखर को लगता है जैसे उसके जीवन ने यथार्थता को खो दिया है।

''अंततः शेखर की खोज स्वातंत्र्य की खोज है, टूटती हुई नैतिक रूढ़ियों के बीच नीति के मूल स्रोत की खोज है। वह समाज की खोखली सिद्ध हो जाने वाली मान्यताओं के बदले व्यक्ति की दृढ़तर मान्यताओं की प्रतिष्ठा करने की कोशिश है।''[32] 'मुक्ति' यह 'शेखरः एक जीवनी' का बीज–भाव है। अज्ञेय के लिए 'शेखर : एक जीवनी' में स्वतंत्रता का अर्थ है– 'वही हो सकूँ, जो मैं हूँ।' और इसके हो सकने में बाधाएँ कौन डालता है। समाज! समाज के मूल्यगत कठघरे व्यक्ति को पनपने नहीं देते। शेखर को बार–बार लगता है वह बंधनों के संसार का व्यक्ति है, इसलिए वह इससे मुक्ति के लिए 'विद्रोह' का साधन अपनाता है। अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को अर्जित करने के लिए उसे तमाम तरह की कीमते भी चुकानी पड़ती हैं। ''अज्ञेय का शेखर बने हुए व्यक्ति की कथा नहीं है, बनते हुए, जूझते हुए, रगड़ खाते हुए व्यक्ति की कथा है।...'स्वराज' को पाना ही शेखर का ध्येय है। उसका आंतरिक संकल्प। संकल्प की इसी आग में वह अपने को झोंक देता है।''[33]

'नदी के द्वीप'– उपन्यास का नाम ही बहुत कुछ बता देता है। 'द्वीप' जो प्रतीक है 'व्यक्ति' का। अज्ञेय का आग्रह यही है– व्यक्तित्व की अक्षुण्णता, इकाई का महत्त्व समाज के भीतर बना रहे है। समाज के भीतर 'व्यक्ति' रेखांकित हो सके। नदी रूपी समाज 'व्यक्ति' रूपी द्वीप को लील न जाए। नदी से घिरा द्वीप अपनी अक्षुण्णता बचाए रखते हुए नदी की संवृद्धि में सहायक हो, उसकी धारा में बह न जाए। अज्ञेय सदा से अलीकी रहे हैं। उनके लिए लीक पर चलना माने 'टाइप' बनना और उनका आग्रह 'व्यक्ति' बनने का रहा, 'टाइप' बनने का नहीं। इसलिए वह धारा में बँधना, बहना स्वीकार नहीं करने। 'व्यक्तित्व' को अक्षुण्ण रखने की चाहत स्वतंत्रता की चाहत है और अज्ञेय का तो संपूर्ण साहित्य ही 'स्वतंत्रता की खोज' की एक यात्रा है।

जब हम समाज की बात करते हैं तो उसके उन सभी बंधनों, कुंठाओं, नैतिक मानदंडों की बात करते हैं जिनसे व्यक्ति घिरा हुआ है। प्रेम की बात हो,

स्त्री–पुरूष संबंधों की बात हो–सर्वत्र ही सदियों से चली आ रही मान्यताओं को परम्परा का अंग मानते हुए समाज व्यक्ति पर थोपने की कोशिश करता है। परंपरा कोई जड़ वस्तु नहीं है, उसे समय के साथ लगातार अपना संवर्धन करते रहना चाहिए। समाज जो जब अपनी सड़ी–गली मान्यताओं, मूल्यगत बंधनों के विषय में दोबारा सोचता नहीं, समय के साथ बदलना नहीं, सभ्यता का नाम लेकर जड़ बना रहता है, वह उस सड़े हुए, दुर्गन्धमय नाले के समान होता है जिसके जल में बहाव नहीं है। अज्ञेय का विद्रोह उस दुर्गन्धमयता के विरूद्ध है। ''नदी के द्वीप–प्रेम, स्त्री–पुरूष संबंध आदि को दर्शाता एक ऐसा ही उपन्यास है। 'व्यक्ति' अज्ञेय की चिंतन–धारा का महत्वपूर्ण अंग रहा है, और 'नदी के द्वीप' उपन्यास में उन्होंने व्यक्ति के विकसित आत्म को निरूपित करने की कोशिश की है– वह व्यक्ति जो विराट समाज का अंग होते हुए भी उसी समाज की तीव्रगामी धाराओं, भंवरों और तरंगों के बीच अपने भीतर एक द्वीप की तरह लगातार बनता, बिगड़ता और फिर बनता रहा है।''[34]

स्त्री–पुरूष संबंधों की दृष्टि से 'नदी के द्वीप', 'शेखर : एक जीवनी' का ही विस्तार लगता है। शशि और शेखर ऐसा लगता है मानों रेखा और भुवन में समाए हुए हों। हालांकि 'शेखरः एक जीवनी' विकसनशील शेखर की, लगातार अपनी परिस्थितियों से बनते और उसके विरूद्ध विद्रोह करते हुए 'व्यक्ति' की कथा है जबकि 'नदी के द्वीप' की व्यवस्था विकसनशील व्यक्तियों की नहीं, आंतरिक रूप से विकसित व्यक्तियों के इर्द–गिर्द बुनी गई है।

''गहरे रूप में प्रेम को व्याख्यायित करता, और प्रेम को तमाम संभव सीमाओं के भीतर पीड़ा का, दुख का अन्वेषण करता यह उपन्यास मूलतः है तो प्रेम कथा ही, लेकिन इस प्रेम का कारण करने वाले, उपन्यास के चारों पात्र उतने साधारण प्रेमी नहीं हैं जो प्रेम का अर्थ सिर्फ हासिल करना समझते हों। अपनी संवेदना की गहराई में वे प्रेम का पुनराविष्कार करते हैं।''[35]

इस उपन्यास में ग्यारह प्रकरणों की जटिल कथा है और आठ प्रकरण पात्रों के नाम पर हैं– प्रत्येक पात्र के नाम पर दो प्रकरण। अंतिम तीन प्रकरण–अंतराल–एक–भुवन, चंद्रमाधव, गौरा; अंतराल–दो रेखा, भुवन, चंद्रमाधव, रेखा और अंतिम प्रकरण 'गौरा' उपसंहार है। भुवन, रेखा, चंद्रमाधव, गौरा–इन चारों पात्रों के इर्द–गिर्द कथा बुनी गई है। 'आत्मनेपद' में अज्ञेय ने इन चारों पात्रों को 'चार संवेदनाओं का अध्ययन' कहा है। उपन्यास के आरंभ से पहले अज्ञेय ने शेली की और अपनी एक कविता का अंश दिया है–

'मेनी अ ग्रीन आइलैंड्स मस्ट बी
इन द डीप वाइड सी ऑफ मिज़री
ऑर द मेरिनर, वोर्न एण्ड वान
नेवर दस कुड वान्डर ऑन.....'

दूसरी कविता है–

'दुख सबको मांजता है
और–
चाहे स्वयं को मुक्ति देना वह न जाने,
किन्तु
जिनको मांजता है
उन्हें वह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।'

'आत्मपरक' में इन दोनों कविताओं के संदर्भ में अज्ञेय कहते हैं– ''उपन्यास के आरंभ में सूत्र–रूप में जो उद्धरण दिए गए हैं– एक शेली का, एक स्वयं लेखक की कविता से, वे अर्थ रखते हैं। दर्द में भी जीवन में आस्था, जीवन का आश्वासन– जो शेली के संदर्भ से ध्वनित होता है, और दर्द से मंजकर व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास, ऐसा स्वतंत्र कि दूसरों को भी स्वतंत्र करे– जो 'अज्ञेय' के संदर्भ से ध्वनित होता है। आदर्श के ये दो सूत्र कथा में हैं, चरितनायक भुवन एक को ध्वनित करता है तो

मुख्य स्त्री पात्र रेखा दूसरे को।''[36] उपन्यास के केन्द्रीय भाव को आरंभ में दिए गए इन दो सूत्रों से समझा जा सकता है। 'नदी के द्वीप' मूलतः एक प्रणय–कथा है। इस कथा के चरित्र समाज के एक विशिष्ट वर्ग से आते हैं, इसलिए इनकी प्रणय–संवेदना भी भिन्न है। अज्ञेय के शब्दों में– ''नदी के द्वीप समाज के जीवन का चित्र नहीं है, एक अंग के जीवन का है, पात्र साधारण जन नहीं हैं, एक वर्ग के व्यक्ति हैं और वर्ग भी संख्या की दृष्टि से अप्रधान ही है...पर उस समाज का, उसके व्यक्तियों के जीवन का जिसका वह चित्र है, सच्चा चित्र है।''[37] दरअसल इस उपन्यास के पात्रों के बीच जो प्रणय–संबंध है वह सामान्य ईर्ष्या–द्वेष से परिचालित नहीं है और न उनमें परंपरागत आत्मत्याग या आत्मपीड़न का वैसा रूप मिलता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में–''नदी के द्वीप में प्रेम का रोमांस बिल्कुल भिन्न प्रकार का है जहाँ भावुकता को बौद्धिकता का आधार मिला है, और राग में भी एक खास तरह का संयम है।''[38] उनके अनुसार इस मामले में 'नदी के द्वीप', 'शेखरः एक जीवनी' से बड़ी कृति है।

अज्ञेय का मानना रहा है–वेदना दृष्टि देती है, व्यक्तित्व को अधिकाधिक निखारती है और मुक्त करती है, केवल अपने को ही नहीं, उन सभी को जो संबंधों के दायरे में आते हैं। उपन्यास की मुख्य पात्र रेखा, जो अज्ञेय के विचारों का ही प्रतिभू लगती है, इसी विचार से संचालित रहती है। अज्ञेय के अनुसार वह 'नदी के द्वीप' की सबसे परिपक्व पात्र है और प्रधान पात्र भी क्योंकि वही अपनी भावनाओं के प्रति सबसे अधिक ईमानदार रही है और अपने प्रति निर्मम भी। रेखा कहती है– ''हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे–छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी, भूमि से बंधे और स्थिर भी पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, बहा ले जाए, फिर चाहे द्वीप का, फूल–पत्ते का आच्छादन कितना ही सुन्दर क्यों न रहा हो।''[39] पूरे उपन्यास में नदी के द्वीप का यह बिंब परिव्याप्त है। यहाँ पर यह 'शेखरः एक जीवनी' से मिलता हुआ लगता है। वहाँ भी शेखर लगातार व्यक्तित्व की अक्षुण्णता को बनाए रखने की बात करता है। कुल मिलाकर देखें तो 'नदी के द्वीप' में मुक्ति का

सवाल–व्यक्तित्व की स्वतंत्रता तथा प्रेम और वेदना कैसे व्यक्ति को मुक्त करते हैं, इस माध्यम से व्यंजित हुआ है। व्यक्तित्व के बनने, विकसित होने तथा मुक्त होने के प्रसंग में पीड़ा और वेदना के योग का उल्लेख उपन्यास में महत्वपूर्ण ढंग से होता है। रेखा कहती है– ''जीवन के सारे महत्वपूर्ण निर्णय व्यक्ति अकेले करता है, सारे दर्द अकेले भोगता है– और तो और, प्यार के चरम आत्मसमर्पण का सबसे बड़ा दर्द भी... समर्पण के धधकते क्षण में जब यह ज्ञान चीत्कार कर उठता है कि हम अलग ही हैं, देना संपूर्ण नहीं हुआ, कि मिटने में भी मैं–मैं हूँ, तू–तू है, मैं तू नहीं हूँ– और हमारी माँग बाकी है... इतना अभिन्न मिलन क्या हो सकता है कि माँग बाकी न रहे? सारी सृष्टि में रमा हुआ ईश्वर भी तो अकेला है, अपनी सर्व–व्याप्ति में अकेला, अपनी अद्वितीयता में अयुत, विरही...।''[40] भुवन गौरा से कहता है– 'बिना पीड़ा के जन्म नहीं होता, गौरा–देव शिशु का भी नहीं।' गौरा उत्तर देती है–''बिना पीड़ा के व्यापक कल्याण भावना भी तो नहीं जागती–ऑल पीस आंन अर्थ कह ही वह सकता है जो पीड़ा से गुजरा है।''[41] इस बिंदु पर चंद्रमाधव की दलील दूसरी है। उसे लगता है– 'पीड़ा से दृष्टि मिलती है' यह सिद्धांत और कुछ नहीं फालतू की दलील है। आत्मपीड़न ही आत्मदर्शन का माध्यम हो, इसे वह मूर्खतापूर्ण बात समझता है। वह कहता है–''भुवन अकेला है, घर–गिरस्ती की चिंताएँ उसने नहीं जानी, दुख की दूर से रोमांटिक कल्पना की है, इसी लिए बातें बना सकता है। अगर सचमुच दुख उसने जाना होता–दुख कैसे तोड़कर, चूर–चूर करके रख देता है, दृष्टि देना तो क्या, आँखों को अंधा करके, पपोटे निकाल कर उनमें कीचड़ भर देता है, यह देखा होता तो उसकी जबान ऐंठ जाती...।''[42] दरअसल चंद्रमाधव का चारित्रिक विकास बाकी तीनों पात्रों से अलग ढंग का है। चंद्रमाधव सहज प्रवृत्ति की तृप्ति को ही अपना लक्ष्य बनाता है। उसके लिए आदर्श 'दान' नहीं 'लब्धि' है। यही कारण है कि उसके भीतर ईर्ष्या है और बिना ईर्ष्या के उसका प्रेम अभिव्यक्त नहीं हो पाया है।

रेखा का व्यक्तित्व दुख की आंच से निखरा है इसलिए अपनी उदारता में वह भुवन को मुक्त रखता है। समर्पण में ही वह बंधनमुक्त है, परंतु रेखा क्षणों में

जीती है, क्षण को ही विराट मानती है और उसी विराट क्षण के प्रति समर्पित होती है। अज्ञेय 'आत्मपरक' में इसे रेखा के व्यक्तित्व की कमी बताते हैं। वह लिखते हैं– ''रेखा अपनी भावनाओं के प्रति सच्ची रहना चाहती है, भीतर के प्रति अपने दायित्व को उसने समर्पण की सीमा तक पहुंचा दिया है। जहाँ यह व्यक्ति की बहुत बड़ी शक्ति है, व्यक्तित्व के विकास का एक उत्कर्ष है, वहाँ वह उसकी एक पराजय भी है। क्योंकि केवल 'अपने में जो है उस के प्रति समर्पण काफी नहीं है। अपने से बाहर और बड़ा भी कुछ है जिसके प्रति भी उतना ही निःसंग समर्पण वास्तव में चरित्र की पूर्ण विकसित और परिपक्व अवस्था है। रेखा की ट्रेजिडी उस के इसी समर्पण के अधूरेपन की ट्रेजिडी है।''[43]

रेखा का भुवन के प्रति समर्पण कुंठारहित है। भुवन के प्रति समर्पित होकर उसे अपने नारी जीवन की सार्थकता का अनुभव होता है। वह स्वयं को 'फुलफिल्ड' महसूस करती है। रेखा और भुवन के संबंधों में 'फुलफ़िलमेंट' की बात कई बार आई है। ''भुवन, जिसके माध्यम से रेखा ने सर्वांगीण प्रेम का अनुभव जाना है मन और शरीर दोनों ही स्तर पर, अनुभव करता है कि रेखा को उसने कुछ दिया है जो श्रेष्ठ है, वरणीय है, और इस देने में न केवल रेखा धन्य है वरन् वह स्वयं भी। नदी के ऊपर बैठी रेखा गा रही है और भुवन सोचता है, 'क्या वह भी रेखा की तरह कह सकता है कि अब 'फुलफ़िल्ड' है, कि अब वह मर सकता है, पर 'फुलफिल' होना क्या है? एक तन्मयता उसने जानी है, एक अभूतपूर्व तन्मयता; लेकिन स्वयं वह जो जाना है उससे कुछ अधिक और कुछ अधिक गहरा रेखा उसके निमित्त से जान सकी है... तो क्या यह फुलफ़िलमेंट नहीं है कि कोई किसी को वह चरम अनुभूति दे सके–देने का निमित्त बन सके–जो जीवन की निरर्थकता को सहसा सार्थक बना देती है।''[44] रेखा के संदर्भ में भोलाभाई पटेल अपनी किताब में लिखते हैं कि– 'अज्ञेय ने रेखा को नीतिनिरपेक्ष भूमिका में चित्रित कर, अपराध बोध से पीड़ित नायिकाओं के वर्ग से उसको अलग रखा है।' रेखा आधुनिक नारी है, वह भुवन से प्रेम करती है किन्तु एकाधिकार की भावना उसके मन में नहीं आती इसलिए वह गौरा से भी ईर्ष्या नहीं कर पाती। चंद्रमाधव रेखा और गौरा के बीच

दरार पैदा कराना चाहता है। प्रथम मिलन पर गौरा रेखा से कुछ खिंचा हुआ, दूरी का व्यवहार करती है, किन्तु रेखा उससे आत्मीयता का व्यवहार करती है। रेखा का भुवन के प्रति जो प्रेम है वह उससे गौरा के प्रति औदार्य का व्यवहार कराता है। उसके गर्भ में भुवन का शिशु है। भुवन उससे विवाह का प्रस्ताव करता है तब वह कहती है ''मैंने तुमसे प्यार माँगा था, तुम्हारा भविष्य नहीं माँगा था, न मैं वह लूंगी।– तुम कुछ कहो, मैं नहीं भूल सकती हूँ। जो हुआ है वह न हुआ तो– तुम न माँगते न कहते, इसलिए तुम्हारा कहना–परिणाम है, और वह कहना परिणाम नहीं कारण होना चाहिए, तभी मान्य–तभी उस पर विचार हो सकता है।''[45] रेखा के अनुसार व्यक्ति पर दबाव डालकर कुछ भी करना गलत है। हेमेन्द्र की चिट्ठी आने पर रेखा समाज के डर से या दबाव से गर्भपात करा लेती है जबकि उसका मानना रहा था कि समाज व्यक्ति के अंतरंग जीवन का नियमन नहीं कर सकता। रेखा के अनुसार उसके चरित्र के दो पहलू हैं–एक है चरित्रवान, प्रकृत, मुक्त और दूसरा है सभ्य और चरित्रहीन। वह भुवन के साथ अपने चरित्र के पहले पहलू के साथ रचना चाहती है, जहाँ वह मुक्त है, कोई आवरण ओढ़े नहीं है। व्यक्तित्व का दूसरा पहलू उसका ओढ़ा हुआ है जहाँ वह अपने लिए तो चरित्रहीन है किन्तु समाज के लिए सभ्य क्योंकि वहाँ वह समाज द्वारा संचालित होती है। रेखा अकेली है, परित्यक्ता है, चंद्रमाधव जैसे पुरूषों की दृष्टि सदैव उसपर रहती है, समाज उसे सशंकित निगाह से देखता है इसलिए उसने अपने ऊपर सभ्यता का आवरण ओढ़ रखा था। समाज के लिए औरत की आज़ादी सिर्फ़ एक खतरा है। इस खतरे का निराकरण करने के लिए ही वह अपने व्यक्तित्व को दो हिस्सों में बाँटकर रखती है। गौरा के विवाह के प्रसंग में भुवन कहता है– ''हमारा संस्कार है, हाँ; पर श्रवणकुमार का जो आदर्श है, वही ज़रा सी चूक पर!– हमारी सारी पीढ़ी की क्लीवता का बड़ा अच्छा प्रतीक भी है। कन्धे पर लदी हुई बहंगी पितृभक्ति का, आदर्श–परायणता का, आत्म–बलिदान का प्रतीक नहीं, जड़ पूजा का, आत्म प्रवंचना का, स्वाधीन जीवन की अपात्रता का प्रतीक है''[46] भुवन का मानना है कि स्वधीनता साहसी का धर्म है।'

रेखा के बाद भुवन गौरा से निकटता की अनुभूति करता है, और उससे मिलकर वह अपने भीतर पूर्णता का अनुभव करता है। रेखा–भुवन और भुवन–गौरा के संदर्भ में एक बात जो देखने की है कि रेखा के व्यक्तित्व के कारण भुवन उससे आकर्षित तो होता है, नौकुछिया ताल में जब रेखा अपने को पूरी तरह से समर्पित होने के लिए उन्मुख होती है तब वह अपने आप को तैयार नहीं पाता, डर जाता है और भावुक होकर रोने लगता है। जो सुंदर है उनके बीच उसके खत्म हो जाने का डर उसे सताता है। कश्मीर में उसका यह डर समाप्त हो जाता है और दोनों के बीच शारीरिक संबंध स्थापित होता है। उस संबंध के बाद रेखा स्वयं को फुलफिल्ड अनुभव करती है किन्तु भुवन सोचता है– क्या उसके लिए वह क्षण 'फुलफिलमेंट' का है? रेखा जब गर्भवती होती है तो भुवन उसे अपनी जिम्मेदारी मानकर विवाह का प्रस्ताव करता है, किन्तु रेखा इसी कारण उसे मना कर देती है, यह कहकर कि– 'जो हुआ है वह न हुआ होता तो–तुम न माँगते–न कहते, इसलिए तुम्हारा कहना परिणाम है, और वह कहना परिणाम नहीं कारण होना चाहिए'। जबकि गौरा के सामने वह हाथ बढ़ाता है वह कहता है–''गौरा, मैं तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाता हूँ– अनुरोध के हाथ, क्या तुम भी अपने हाथ मेरी ओर बढ़ाओगी वरद हाथ...।''[47] भुवन गौरा के प्रति समर्पित होता है और खुद को फुलफ़िल्ड पाता है। उपन्यास के अंत में बर्मा फ्रंट से गौरा को पत्र लिखते हुए भुवन बीती हुई सारी स्थितियों और मनः स्थितयों को एक सूक्ष्म धरातल पर समेट कर देखता है और अनुभव करता है कि–''सब कुछ अधूरा है, और ज्यों–ज्यों वह आगे पूरेपन की ओर बढ़ता है, नई भावनाएँ भी उसके आगे स्पष्ट होती जाती हैं– कितना बड़ा जीवन है, कितना विस्तृत, कितना गहरा, कितना प्रवाहमान और उसमें व्यक्ति की ये छोटी–छोटी इकाईयाँ–प्रवाह से अलग जो कोई व्यक्तित्व नहीं रखती, कोई अर्थ नहीं रखती, फिर भी संपूर्ण हैं, स्वायत्व हैं, अद्वितीय हैं और स्वतः प्रमाण है, क्योंकि अंततोगत्वा आत्मानुशाशित हैं, अपने आगे उत्तरदायी है, स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप, दण्ड और पुरस्कार, शांति और तुष्टि, ये सब बाहर हैं तो केवल समय है, सत्य तभी हैं जब भीतर से उद्‌भूत हों।''[48]

यहाँ से देखने पर लगता है कि समाज–व्यक्ति, नदी–द्वीप के बीच कोई अंतर नहीं है, उन्हें बांटकर देखने की बजाय समग्र सत्य के रूप में देखने की दृष्टि विकसित करने की बात लेखक कह रहा है।

'नदी के द्वीप' के रचना संसार में व्यक्ति, अस्मिता और अस्तित्व के प्रश्न हैं जो मुक्ति या स्वतंत्रता के प्रसंग में उठाए गए हैं। उपन्यास के तीन पात्र भुवन–रेखा–गौरा इस जीवनदृष्टि का प्रतीक बनकर आए हैं। इस उपन्यास पर भी कई प्रहार हुए हैं। श्लीलता–अश्लीलता का प्रश्न इसपर उठाया गया है, सामाजिक यथार्थ के अभाव का आरोप भी लगा है। इस संदर्भ में अज्ञेय कहते हैं कि– नदी के द्वीप व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है। व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिंब भी, पुतला भी, इस तरह वह अपनी 'जैविक' सामाजिक के विरोध में नहीं, उससे अधिक पुराने और व्यापक और लंबे संस्कारों को ध्यान में रखते हुए। फिर वह इस दाय पर अपनी छाप भी बैठाता है, क्योंकि जिन परिस्थितियों से वह बनता है उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है। वह निरा पुतला नहीं, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि–विवेक संपन्न व्यक्ति।''[49] 'नदी के द्वीप' का उपन्यासकार 'व्यक्ति' की 'मुक्ति' की तो बात करता ही है, पर ऐसी 'मुक्ति' जो समाज को भी 'मुक्त' बना सके इसी में उसके व्यक्तित्व की संपूर्णता है। लेखक का मानना है– 'अपने में जो है उस के प्रति समर्पण' काफी नहीं है, अपने से बाहर और बड़ा भी कुछ है जिस के प्रति भी उतना ही निःसंग समर्पण व्यक्ति को परिपूर्ण बनाता है।'

1961 में प्रकाशित अज्ञेय का तीसरा और अंतिम पूर्ण उपन्यास 'अपने–अपने अजनबी' अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि में लिखा गया हैं, किन्तु पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन का वह समर्थन नहीं करता, बल्कि कहना चाहिए कि पश्चिम के 'अस्तित्वाद' की कुछ स्थापनाओं के उत्थापन की दृष्टि से यह उपन्यास लिखा गया है।' इस उपन्यास की मूल वस्तु है 'मृत्यु से साक्षात्कार'। किस प्रकार मृत्यु से साक्षात् अपनों को अजनबी बना देता है और अजनबियों को अपना, यही इस उपन्यास की थीम

है। 'योके' और 'सेल्मा' के रूप में दो पात्र लेखक खड़े करता है जिसमें 'योके' पश्चिम और 'सेल्मा' पूर्व की दृष्टि लिए हुए है। इन दो दृष्टियों से पाठक को अवगत कराकर अंततः लेखक 'पूर्व की दृष्टि की ही विजय दिखलाता है ओर उसी का समर्थन करता है। यद्यपि यह पूर्व की दृष्टि भी पश्चिमी पात्र के माध्यम से लेखक ने दिखाने की कोशिश की है। इस संदर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं कि– ''पिछले उपन्यासों में जो 'व्यक्तित्व की खोज' आरम्भ हुई थी– 'अपने अपने अजनबी' में उसकी एक ढंग से निष्पत्ति है–।''[50]

अपने–अपने अजनबी' से पहले 'शेखरः एक जीवनी' में भी हम 'मृत्यु से साक्षात्कार' और इस साक्षात्कार से उभरे सवाल कि 'यदि यही जीवन का अंत है तो इस जीवन की सिद्धि क्या है? देख चुके हैं। यूरोप यात्रा के दौरान फिर लेखक के चिंतन के केन्द्र में 'मृत्यु' है– ''प्रायः पच्चीस वर्ष पहले जेल–जीवन में जिस एक प्रश्न को लेकर बहुत सोचा करता था, और किसी कृति में निरूपित करने के अनेक प्रयत्न करता रहता था– कविता में, उपन्यास में, नाटक में भी। वह एक नए रूप में उभर आया था। स्टॉकहोम में लिफ्ट से कूदकर आत्महत्या करने वालों की चर्चा, जीवन और मरण के प्रश्न पर एक स्वीडी कवि से इच्छा विरूद्ध और उत्तेजित बहस ने मेरे चिंतन को फिर उसी प्रश्न पर केन्द्रित कर दिया था– एकांत में मृत्यु से साक्षात् होने पर कैसा लगता है? अत्यंत सूक्ष्म काल में तो ऐसी स्थिति में केवल दुर्दांत जीवन–प्रेम (या कह लीजिए जीवन–मोह) उभरेगा; अस्तित्ववादी इसी सूक्ष्म क्षण का विश्लेषण करते हैं, क्योंकि मृत्यु साक्षात का क्षण चरम जीवनबोध का क्षण है। किन्तु क्षण की बात न सोचकर उस अवस्था की बात सोचूँ तब! मृत्यु से साक्षात् के क्षण को नहीं कालव्यापी परिस्थिति को अन्य सब परिस्थितियों से अलग करके एकांत भाव से कैसे देखा और दिखाया जाए, यह मैं बार–बार सोचता रहा था, और ऐसी स्थिति में उलझे हुए पात्रों को और सब प्रभावों से अलग करने के लिए मैंने निर्जन द्वीप से लेकर बंद हो गई सुरंग तक अनेक परिस्थितियों की कल्पना की थी। लापोनिया के हिमशिलित एकांतों ने इस प्रसंग को फिर उभारा, और अंत में एक स्वीडी लेखिका ने दुख और यातना संबंधी एक प्रसंग पर बातचीत के

सिलसिले में अपना अनुभव सुनाया तो सहसा मुझे लगा कि अपनी समस्या के हल के लिए एक फीकी सी किरण मुझे दीखने लगी है। यह लेखिका कैंसर के एक रोगी के साथ लोपोनिया के एक पहाड़ी झोपड़े में जाडों भर के लिए बंदी हो गई थी। अनपेक्षित हिमपात के कारण झोपड़े के आने–जाने के सब मार्ग बंद हो गए थे। मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ एक व्यक्ति, और उसे देखता हुआ दूसरा व्यक्ति जो उस मृत्यु का निवारण भी चाहता था और उसकी कामना भी करता था–मेरी समस्या का चरम रूप, जिसमें वह समस्या सब ओर से काटकर शून्य में रख दी गई थी, सामने था।''[51]

इस लंबे उद्धरण से यह बात तो स्पष्ट हो गई कि अपने–अपने अजनबी का प्लॉट इन्हीं सुने गए अनुभवों के आधार पर काल्पनिक रूप में रचा गया है, जिसमें चिंतन पक्ष लेखक का स्वयं अपना है। यहीं पर यह उपन्यास 'शेखरः एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' से भिन्न है। उनके–पूर्ववर्ती दोनों उपन्यासों की कथावस्तु और परिवेश दोनों लेखक के जीवन के करीब हैं और भारतीय हैं, इसलिए ज़्यादा आकर्षित करते हैं। 'अपने–अपने अजनबी' में विदेशी प्लॉट और दर्शन पक्ष के अधिक हावी रहने के कारण बहुत से आलोचकों को वह अज्ञेय की असफल कृति लगा है।

'अस्तित्ववाद' एक आधुनिक विचारधारा है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, बीसवीं शताब्दी के समग्र विश्व–साहित्य को प्रभावित करता है। किर्केगार्ड, जिसे अस्तित्वादी दर्शन का संस्थापक कहा जाता है, ने मानवीय अस्तित्व की व्यग्रता, स्वतंत्रता की चिंता, मूल्य–संघर्ष की भीतरी सजगता आदि के बारे में अस्तित्वकेंद्री विधान किए हैं। अस्तित्ववाद के विभिन्न रूप हैं। ईश्वरवादी अस्तित्व दर्शन भी है, निरीश्वरवादी अस्तित्व दर्शन भी है। जर्मन दार्शनिक कार्ल यास्पर्स और फ्रांसीसी मार्सेल आदि ईश्वरवादी अर्थात ईसाई अस्तित्वदर्शन की परम्परा के हैं। जबकि जर्मन चिंतक हाइडेगर और सार्त्र निरीश्वरवादी अस्तित्व–दर्शन की परम्परा के हैं। सार्त्र दार्शनिक भी है, साहित्यकार भी, इसलिए उसका सर्जनात्मक साहित्य भी

दर्शन से प्रभावित है। अज्ञेय दार्शनिक नहीं है, मुख्यतया सर्जनात्मक साहित्यकार ही हैं लेकिन 'अपने–अपने अजनबी' इसमें अपवाद है। भोलाभाई पटेल के शब्दों में– ''उसमें लेखक आरंभ से ही एक 'थेसीस' लेकर चलते हैं और उस थेसीस' की स्थापना के लिए पात्र और परिस्थिति का निर्माण करते हैं।''[52] इस उपन्यास में मृत्यु के विचार के बीच ईश्वर का विचार, वरण की स्वतंत्रता का विचार, दूसरे के अस्तित्व का विचार, अकेलेपन आदि पर भी–विचार मिलता है।

भारतीय मानस में मृत्यु 'त्रास' का विषय न होकर 'उत्सव' है। यहाँ का साधक कहता है– 'मरो हे जोगी मरो, मरण है मीठा'। ''पूर्व का सहित्य दर्शन अधिकतर मृत्यु की निश्चिंतता को लेकर आश्वस्त थे अतः आस्था वान थे। इस उपन्यास में सेल्मा की आस्था इसी दृष्टिकोण की सूचक है। योके कहती है– ''और ठीक यहीं पर फर्क है वह जानती है और जानकर मरती हुई भी जिए जा रही है। और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ।''[53]

सेल्मा निरवधिकाल में जीती है। वहाँ काल एक प्रवाह नहीं है, उसमें कुछ भी आगे–पीछे नहीं है बल्कि सब एक साथ है। वह समूचे काल में जीती है किसी एक क्षण में नहीं। निरवधि काल उसे एक शाश्वत और वृहत्तर आयाम से जोड़ देता है, जो उसे मृत्यु की छाया में भी आस्थावान बनाए रखता है और मुक्त करता है। यही कारण है कि मृत्यु उसे डराती नहीं, उसकी छाया में भी वह कल्पना कर सकती है कि 'बाहर खुली धूप है– बड़ी निखरी हुई स्निग्ध धूप, जिसके धाम में बदन अलसा जाये।' निरवधि काल का यह बोध काल की चक्रीय अवधारणा का द्योतक है, जो पूर्व की दृष्टि है। यहाँ किसी एक क्षणविशेष पर बल नहीं है बल्कि सभी कुछ क्षण है। काल का यह बोध मनुष्य की पहचान से ज्यादा मनुष्य की सार्थकता पर ज़ोर देता है। यहीं योके की दृष्टि उससे अलग है। उसके लिए मृत्यु त्रास और अवसाद का विषय है। सेल्मा के पूछने पर कि उसका ध्यान हमेशा मृत्यु की ओर क्यों रहता है, वह कहती है– ''क्योंकि वही एकमात्र सच्चाई है– क्योंकि हम सबको मरना है।''[54]

योके सावधिकाल में जीती है। जिस क्षण में वह जीती है, वही उसके लिए जीवंत क्षण है, उसी में वह मुक्ति खोजती है। यही कारण है कि वह मानती है कि जो हमारे भीतर नहीं है वह हम बाहर कैसे दे सकते हैं– कैसे देना चाह सकते हैं? खुली, निखरी हुई, स्निग्ध, हंसती धूप की कल्पना में भी वह फायदा– नुकसान खोजती है। अज्ञेय के शब्दों में यह उपन्यास 'प्राची और प्रतीची' इन दो विरोधी दृष्टियों का कंट्रास्ट है। सेल्मा में स्वीकार–भाव है। वह बड़ी आसानी से कह जाती है कि उसे कैंसर है। वह अपना अंतिम समय अकेले व्यतीत करना चाहती थी, पर जब योके आ ही गई तो उसने उसे भी स्वीकार कर लिया। वह कहती है–''कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नही रहेगा? क्या मैं स्वतंत्र हूँ कि बीमार न रहूँ– या अब बीमार हूँ तो क्या इतनी भी स्वतंत्र हूँ कि मर जाऊँ? मैंने चाहा था कि अंतिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी?[55] योके के लिए सेल्मा असह्य बन जाती है, उसकी उपस्थिति उसे यंत्रणा देती है, इसलिए वह सेल्मा के प्रति घृणा दिखाकर या पीड़ा पहुँचाकर संतोष पाने का प्रयत्न करती है। मृत्यु को लेकर जिस प्रकार उनके विचारों में अंतर है, ईश्वर को लेकर भी वैसा ही है। घटनाकाल–क्रिसमस का है। सेल्मा ईश्वर में आस्था रखती है, योके नहीं रखती–ईश्वर के नाम पर वह केवल थूक सकती है। पश्चिम के 'अस्तित्ववाद' और पूर्व के दृष्टिकोण में यहाँ भी टकराहट दिखाई देती है। अस्तित्ववाद में 'वरण की स्वतंत्रता' पर बल दिया गया है और यहाँ लेखक सेल्मा के माध्यम से इसका प्रत्याख्यान करते हैं। 'अस्तित्ववादी स्वतंत्रता का स्वीकार जैसे एक अनास्था का स्वीकार हो इस तरह से अज्ञेय संकेतित करते हैं।' हालांकि सेल्मा की दूसरी दुनिया में जब पाठक जाता है तब युवति सेल्मा भी उसे योके जैसी लगती है। बुढ़िया सेल्मा जब तरूणी थी और पुल पर रहती थी, तब उसका भी जीवन–व्यवहार अस्तित्वबोध से आक्रांत था। मृत्यु में भी वह अपना स्वार्थ खोजती है। टूटे पुल पर जब फोटोग्राफर मरता है, तब भी वह अपने बारे में सोचती है। यान को खाना देते समय भी वह कीमत के बारे में सोचती है। मृत्यु की आसन्न उपस्थिति से उसके भीतर बदलाव आता है और वह 'साझेपन' की बात सोचती है। वह यान के सामने

विवाह का प्रस्ताव रखती है। बाद की सेल्मा में जो आस्था और मृत्यु का स्वीकार हम देखते हैं वह उसकी बदली हुई जीवनदृष्टि का परिचायक है।

उपन्यास के अंत में योके का मृत्यु के प्रति स्वीकार, उसकी परिवर्तित दृष्टि, अस्तित्ववादी जीवनदृष्टि के अस्वीकार को दर्शाती है। ''जब वह अच्छे आदमी को साक्षी बनाकर मरना चाहती है तो एक तरह से मृत्यु का भी स्वीकार कर लेती है, क्योंकि सच्चाई में आस्था और साक्षी के माध्यम से प्रकारांतर से अमरत्व इन दोनों के सहारे व मृत्यु से ऊपर उठ जाती है।''[56]

इस उपन्यास के गहरे निहितार्थ में स्वातंत्र्य की खोज ही है। सेल्मा–जिसमें इस भाव का स्वीकार है कि 'वरण की स्वतंत्रता' उसे नहीं है और योके जो अंततः मृत्यु को स्वीकारते हुए भी अपने लिए अच्छे आदमी के पास मरने की स्वतंत्रता का वरण करती है।

4.3 अज्ञेय की कहानियों में मुक्ति का स्वरूप

अज्ञेय की पहली कहानी है 'जिज्ञासा' जो उन्होंने 1929 में लिखी। यहाँ एक साँप है जो 'ज्ञान' को अपनी गुंजलक में दबाये बैठा है और इसी ज्ञान के कारण वह स्वयं को ईश्वर के समकक्ष समझता है। मनुष्य के भीतर जब जिज्ञासा जागती है, तब साँप का वह गुंजलक खुल जाता है। मानव के भीतर उलझन थी, अस्तित्व की समस्या थी। वह बार–बार पुकार कर कहता मैं जानना चाहता हूँ'। यहाँ ईश्वर कहता है–''मैं ज्ञानमय हूँ, पूर्ण हूँ, मैं कुछ खोजता नहीं।''[57] मनुष्य की इस जानने की इच्छा के कारण ही सृष्टि गतिशील है।

एक रचनाकार के रूप में अज्ञेय के भीतर की यह जिज्ञासा सर्वत्र विद्यमान है। उनके भीतर का विद्रोह भाव जिसके मूल में 'स्वातंत्र्य की खोज' है, का कारण यहाँ जिज्ञासु प्रवृत्ति है। इसी के कारण वह 'नई राहों का अन्वेषण' करते चलते हैं। अज्ञेय का 'हारिल' मन संपूर्णता चाहता है, क्योंकि संपूर्णता को पा लेना ही 'मुक्त' होना है। अपनी रचनाओं में अज्ञेय की खोज 'मुक्ति की खोज' की अनवरत यात्रा है

और इस यात्रा में वह 'नए पानी में घुसने' की ललकार को स्वीकार करते चलते हैं। कहानियों में भी उनकी खोज अंततः 'स्वाधीनता की खोज' ही है और साथ ही स्वाधीनता के मूल्यों को प्रतिस्थापित करने की चेष्टा भी।

लेखन की शुरूआत में तो अज्ञेय का कहानियों की ओर झुकाव रहा किंतु 1954–55 के बाद क्रमशः उनका झुकाव इस ओर न के बराबर रह गया। 1957 में वह एक कहानी लिखते हैं और उसके बाद 1959 में वह अपनी अंतिम कहानी 'हजामत का सबुन' लिखते हैं और कहानियों से सन्यास ले लेते हैं। इस राह को छोड़ने की वजहों में एक वजह वह यह देते हैं कि–''मेरे लिए रचनाकर्म हमेशा अर्थवत्ता की खोज से जुड़ा रहा है। और यही खोज मुझे कहानी ले दूर ले गई क्योंकि कहानी को मैंने उसके लिए नाकाफ़ी पाया।... अर्थवत्ता में एक तरफ़ वस्तु की सही और मजबूत पकड़ पर और दूसरी तरफ़ उसके सही संप्रेषण पर मेरा समान बल रहा है। यानी खोज निरंतर यथार्थ की व्याप्ति और गहराई को समझने और संप्रेषण प्रक्रिया को अधिक समर्थ बनाने की रही है। जो रास्ता इस खोज में मुझे और आगे जा जाता नहीं जान पड़ा है, चाहे इसलिए कि मेरे लिए वह दुर्गम है, उसे छोड़कर मैंने अपनी यात्रा के लिए दूसरा पथ बनाना शुरू कर दिया है; और पथ बनाते हुए भी अपने पाठक अथवा समाज को साथ लिये चलने या लिए रहन की प्रयत्न करता रहा हूँ क्योंकि असल बात तो समाज को ही लेकर चलने की है, स्वयं कहीं पहुँच जाने की नहीं...।''[58]

जो भी हो लेखक को कहानी का व्यास नाकाफ़ी लगा। नाकाफ़ी इसलिए कि–''उसमें मनोजगत की–मनौवैज्ञानिक यथार्थ की–कोई एक गांठ, एक ग्रन्थि, एक दरार तो एकाएक तीखे प्रकाश से आलोकित कर दी जा सकती थी, पर मनोदेश का कोई एक नक्शा नहीं खींचा जा सकता था ...।[59] एक गौर करने वाली बात है कि एकतरफ तो लेखक संपूर्ण यथार्थ का चित्र उकेरने के लिए कहानी के व्यास को अपर्याप्त मानकर उसकी राह छोड रहा था और दूसरी ओर कविताओं के लघु से लघुतर आधार को श्लाघ्य मानकर उसकी ओर बढ़ रहा था। इस संबंध में लेखक

कहता है–''कहानी में एक आलोकित संधिस्थल के आसपास के प्रदेश की छायालोकित झाँकी दिखाई जा सकती है, पर अधिक दीखने से उसका फोकस बिखर जाता है। इसके विपरीत कविता के सघन स्वर की पृष्ठिका में जितने भी स्वरों की अनुगूँज सुनायी दे सके, मुख्य स्वर को समृद्धतर बनाती है।''[60]

अज्ञेय ने कुल जमा सड़सठ कहानियाँ लिखीं हैं। ये सभी कहानियाँ दो खण्डों में प्रकाशित हुई हैं– अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँ –1 (छोड़ा हुआ रास्ता) और अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँ–2 (लौटती पगडंडियाँ)। 'छोड़ा हुआ रास्ता' और 'लौटती पगडंडियाँ'– इन नामों का ध्वन्यार्थ तो यही कहता है कि शुरूआत में जिन कहानियों की राह को लेखक ने छोड़ने का मन बना लिया होगा, उस पर पुनः कुछ समय लौटने का उपक्रम उसने किया है। 1959 के बाद लेखक ने यह रास्ता हमेशा के लिए छोड़ दिया। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी किताब–'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' में अज्ञेय की कहानियों को विषयपरक माना है और उसी के अनुसार उनका वर्गीकरण किया है। उनका वर्गीकरण अज्ञेय के वर्गीकरण से ही मिलता–जुलता है। अज्ञेय ने अपनी कहानियों को चार खेपों में बाँटा है। प्रथम खेप की कहानियाँ क्रांतिकारी जीवन से संबंधित है। जिस समय ये कहानियाँ लिखी गई उस समय अज्ञेय क्रांतिकारी जीवन जी रहे थे। उनका स्वर आदर्शोन्मुख है और लेखक का ओढ़ा हुआ आदर्श नहीं है, उस समय सचमुच ऐसे क्रांतिकारी थे जो आदर्शवादी थे और आदर्शवादी होना गौरव की बात समझते थे। इन कहानियों में जो एक रोमांटिक ढंग की भावुकता है वह इसी कारण है। 'विपथगा', 'हारिती', 'अकलंक' आदि इसी युग की कहानियाँ हैं। क्रांति की ये कहानियाँ रूस, चीन, भारत और दक्षिण अमेरिका की पृष्ठभूमि में लिखी गई हैं। इन कहानियों में क्रांति–समर्थन की, क्रांतिकारियों की मनोरचना किस प्रकार बनती है और किस तरह की होती है आदि को विषय बनाया गया है। दूसरे खेप की कहानियों के संबंध में अज्ञेय कहते हैं–''पुराने गुप्त–कर्मी आतंकवादी का खुले समाज में एक 'जाने हुए व्यक्ति' के रूप में जीने का, समाज से मिलने वाले सम्मान के बीच उस समाज के और उस समाज के खोखलेपन का अनुभव करने का यह युग कहानियों की दूसरी

खेप का युग है।''[61] इन कहानियों में क्रांति से मोहभंग को कहानियाँ भी शामिल हैं और इसी कारण इनमें वह रोमांटिक भोलापन नहीं झलकता जो पहली खेप की कहानियों में मिलता है। इन कहानियों में गैर–रोमांटिक होने की प्रक्रिया है जो क्रमशः आधुनिक भावबोध की ओर लेखक की दृष्टि को ले जाती है। 'कड़ियाँ', 'एकाकी तारा', 'पहाड़ी जीवन', 'अलिखित कहानी' 'शांति हँसी थी', 'पगोड़ा वृक्ष', 'सिग्नेलर' आदि इसी तरह की कहानियाँ हैं। इस खेप की कहानियों में एक तीखा व्यंग भी–पाठक देखता है।

तीसरे खेप की कहानियाँ 1947 के आसपास की हैं। 1947 में लेखक ने सात कहानियाँ लिखी। लेखक के ही शब्दों में–''तीसरे खेप की कहानियाँ सैनिक जीवन से, और उन प्रदेशों के जीवन, समाज अथवा इतिहास से जिनमें सैनिक जीवन बिताया, घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है।''[62] 'हीलीबोन की बत्तखें', 'जयदोल', 'मेजर चौधरी की वापसी' इसी दौर की कहानियाँ हैं। ये वे कहानियाँ हैं जिनके कारण अज्ञेय का नाम एक कहानीकार के रूप में विशिष्ट तौर पर लिया जाता है।

चौथे खेप की कहानियों में 'भारत विभाजन के विभ्राट और उससे जुड़ी हुई मनःस्थितियों की कहानियाँ हैं। इन कहानियों में आहत मानवीय संवेदनाओं, मानव–मूल्यों के आग्रह और मानवतावाद के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति मिलती है। विभाजन की पृष्ठभूमि में ये कहानियाँ जरूर लिखी गई हैं किंतु इनका विषय विभाजन या विभाजनजनित मुखर समस्याएँ न होकर विभाजन की विभीषिका से ग्रस्त मानवीय संवेदन की उत्कटता और उन्नयन को प्रकट करना है। यहाँ मूल्यों के प्रति आग्रह है किंतु कोरी भावुकता नहीं है।' 'लेटरबक्स', 'मुस्लिम–मुस्लिम भाई–भाई', 'रमंते तंत्र देवता', 'बदला', 'शरणदाता' आदि इसी संग्रह की कहानियाँ हैं। 'नारंगियाँ' और 'शिक्षा' भी इसी संग्रह की कहानियाँ हैं जो बाद में लिखी गई हैं।

इन सभी कहानियों के मूल में कहीं न कहीं 'स्वतंत्रता का मूल्य' ही अनुस्यूत है। प्रारंभिक कहानियाँ क्रांतिकारी जीवन से संबंधित हैं। क्रांति किसके लिए ? –

स्वतंत्रता के लिए ही। फिर दूसरे खेप की कहानियाँ जहाँ क्रंति से मोहभंग है, समाजिक जीवन की जड़ताओं पर एक व्यंग्यमिश्रित प्रहार है, वह भी उन जड़ताओं से मुक्ति के लिए ही है। फिर तीसरे और चौथे खेप की कहानियाँ जो मानवीय संवदेनाओं का सूक्ष्म अंकन करते हुए एक वृहत्तर मानव–मूल्य को प्रतिष्ठित करने की बात करती हैं, उनके मूल में भी लेखक का 'स्वाधीनता बोध' ही है, जो अपने समाज को भी संपूर्णता की ओर ले जाता है और उसमें स्वाधीन–मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। अज्ञेय का स्वतंत्रता–मूल्य समाज से स्वतंत्र नहीं, समाज में स्वतंत्र है और मुखरित मानवताबोध की प्रतिस्थापना से सरोकार रखता है।

अज्ञेय की शुरूआती क्रांतिजीवन संबंधी जितनी कहानियाँ हैं, चाहे वह 'विपथगा' हो, 'हारिती', 'अकलंक', 'द्रोही', क्षमा, 'अंगोरा के पथ पर' आदि हो; सभी में पात्रों के आंतरिक द्वंद के माध्यम से जीवन की सार्थकता को प्रश्न ले ही रखा गया है जो अंततः मुक्ति का ही प्रश्न है। व्यक्ति अपने आपको स्वतंत्र या संपूर्ण करने के लिए अपने से बड़े और महत्तर किसी मूल्य की पहचान करता है और उसके प्रति समर्पित होता है। मूल्य जीवन से बड़ा है। इसलिए वह उसके लिए बड़ी से बड़ी कीमत देने को, बड़े से बड़ा स्वार्थ त्यागने को भी तैयार रहता है। अज्ञेय की इस तरह की कहानियों के पात्र –भावुक, आदर्शवादी ढंग के हैं। उनकी यही भावुकता, किसी एक लक्ष्य के लिए आदर्शवादी ढंग से समर्पित होने की भावना ही उन्हें एक व्यक्ति के रूप में संपूर्ण और तदंतर स्वतंत्र बनाती है। स्वयं को स्वतंत्र करने के क्रम में वह उस परिवेश के निर्माण का भी उद्यम करते हैं, जिसमें सभी की स्वाधीनता अर्जित की जा सके।

'हारिती' चीन की क्रांति की पृष्ठभूमि में लिखी गई कहानी है। हारिती एक ऐसी लड़की है जिसके जीवन में और स्त्रियों की भांति–आनंद, स्नेह, प्रेम कुछ भी नहीं है। वह कैंटन सेना में जासूस का काम करती है और प्रायः पुरूष वेष में रहती है। उसकी सहचरियाँ जब कभी उससे इस विषय में प्रश्न करतीं, तो वह कहती–''जिस देश में पुरूष भी गुलाम हो, उसमें स्त्री होने से मर जाना अच्छा है।''[63] 'क्वानियन' हारिती से प्रेम करता है किंतु हारिती का मानना है कि–गुलाम

को प्रेम करने का अधिकार नहीं है। हारिती की केवल इतनी ही प्रार्थना है कि वह कभी पथभ्रष्ट न हो, सदैव विश्वास के योग्य बनी रहे। एक दिन घनघोर वर्षा के बीच, कर्नल ने हारिती को एक महत्वपूर्ण पत्र पहुँचाने का दायित्व सुपुर्द किया। यह पत्र डायना पेइकू को पहुँचाया जाना था। रास्ते में युवान शिकाई की शत्रु सेना और घहराती हुई सीक्यांग नदी दोनों से ही मुटभेड़ करनी है। हारिती के साथ क्तानियन भी जाता है, किंतु कर्तव्यबोध में प्रेम को स्थान नहीं है। शत्रुओं को रोकने के क्रम मे क्वानियन मारा जाता है और हारिती नदी में कूद जाती है। सैनिक उसको भी अपना निशाना बनाते हैं और नदी में ही गोलियाँ चलाते हैं। घायल अवस्था में वह डायना के घर पहुँचती है। उसके भीतर इतनी भी शक्ति शेष नहीं रह गई है कि वह पत्र निकालकर उसे दे सके। डायना ने स्वयं उसकी कमरबंद से पत्र निकाला और पढ़ा, वह प्रेम पत्र था। हारिती के मुख पर व्यथा की रेखा दौड़ गई, क्या इसके लिए ही उसने इतना सब सहा? अपने प्रेम भी आहुति दे दी? यह कहानी वस्तुतः उन संगठनों की प्रवंचना को ध्यान में रखकर लिखी गई है, जो क्रांति और समाज–परिवर्तन के नाम पर केवल अपना स्वार्थ पूरा करते हैं और दूसरे के जीवन का मोल नहीं समझते। हारिती स्वयं गुलाम है और अपनी स्वतंत्रता को वह अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता में खोजती है और प्रजातंत्र के उस महत्तर लक्ष्य को पाने के लिए वह अपने प्राणों का उत्सर्ग करने से भी पीछे नहीं हटती। किंतु यहाँ सवाल उन संगठनों का है, उनके समर्पण का है। क्या जिस तीव्रता से 'व्यक्ति' के भीतर समर्पण की भावना कार्य करती है, उतने ही समर्पण का भाव उन संगठनों में भी है जिससे व्यक्ति जुड़ा है? सार्त्र ने 'अस्त्विवाद और मानवतावाद' नामक अपने बहुचर्चित और विश्वविख्यात निबंध में 'व्यक्ति और संस्था' के संबंध में 'समर्पण' या 'कनविक्शन' के प्रश्न को बखूबी दिखाया है। सार्त्र और मार्क्सवादियों के बीच बहस होती है जिसमें मार्क्सवादी कहते हैं कि–एक वर्गहीन समाज, जिसमें किसी भी तरह की आसमानता न हो, उसकी स्थापना को एक अनन्य उद्देश्य के रूप में लेकर कार्य किया जा सकता है। तब सार्त्र यह प्रश्न करते हैं कि–'मेरी मृत्यु के बाद उस उद्देश्य का क्या होगा' इसपर उनके मार्क्सवादी मित्र करहते हैं कि–चीन, रूस आदि

विश्व के अन्य कोणों पर अन्य लोग जो लगे हुए हैं, वे भी इसी महत उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य कर रहे हैं और आपके न रहने पर या आपके बाद भी वह इसी महत उद्देश्य को आगे बढ़ाते रहेंगे। इसलिए आप संतुष्ट हो सकते हैं कि जो एकमात्र उद्देश्य आपने चुना है और जो सचमुच एकमात्र उद्देश्य हो सकता है, आपके न रहने पर भी उसके लिए काम होता रहेगा।' इस बात को मानते हुए भी सार्त्र एक और प्रश्न खड़ा करते हैं। वह कहते हैं कि–'मैं किसी संस्था से जुड़ता हूँ तो उससे जुड़ने के लिए सबसे बड़ी शर्त ये है कि मैं जिस भाव से समर्पित हूँ उसी भाव से वह संस्था और उससे जुड़ा हर व्यक्ति समर्पित रहे। किन्तु क्या ऐसा संभव है? उद्देश्य को लेकर जिस तरह का समर्पण मुझमें है अगर वह संस्था और उससे जुड़े अन्य लोगों में नहीं है तो ऐसे जुड़ाव का कोई मतलब नहीं है।' सार्त्र आगे लिखते हैं– 'यह तो बात ठीक है कि एक उद्देश्य है जिसके लिए संगठन कार्य कर रहा है। पर ये क्या जरूरी है कि संगठन में से कुछ लोग मेरी मृत्यु के बाद 'नाज़ी' न हो जाएँ? ये बात मैं जानता हूँ कि 'नाज़ीवाद' मानवता के लिए खतरा है, लेकिन इससे ये बात तो झूठी नहीं हो जाती कि जो लोग मार्क्सवाद के लिए समर्पण कर रहे हैं, वे कल चन्द स्वार्थों के लिए 'नाज़ीवाद के समर्थन में न उतर आएँ। फिर मेरे महत्तर उद्देश्य का क्या होगा? ऐसे में मैं स्वयं को कहाँ पाता हूँ?' वृहद् राजनैतिक स्वतंत्रता जिसमें सबकी सार्थकता संभव हो सके उसके लिए प्रयास करने वाले संगठनो और उनके स्वार्थों के बीच, उस व्यक्ति की त्रासदी, जो पूरे समर्पण भाव से उस महत उद्देश्य को पूरा करने में लगा है, को अज्ञेय ने बड़ी ही कलात्मकता के साथ 'हारिती' में उकेरने की चेष्टा की है। यहाँ जयशंकर प्रसाद की एक कहानी 'पुरस्कार' की भी चर्चा करना समीचीन होगा। 'पुरस्कार' कहानी में 'अरूण' और 'मधूलिका' के माध्यम से प्रसाद एक व्यक्ति की आकांक्षाओं और उसके प्रेम के बरक्स 'राष्ट्र' को अधिक महत्व देते हैं और इस बात को बड़े ही रोमांटिक ढंग से वह रखते हैं। प्रसाद जी का पक्ष और दृष्टिकोण यहाँ साफ़ नज़र आता है। अज्ञेय, प्रसाद जी के बाद आते हैं और उनपर प्रसाद जी का प्रभाव भी हैं, बावजूद इसके वह कुछ मामलों में प्रसाद जी से भिन्न हैं। अज्ञेय स्वयं भी क्रांतिकारी रहे हैं

और क्रांतिकारी संगठनों से जुड़ने के कारण ही उन्हें जेल भी जाना पड़ा है। क्रांतिकारियों का जीवन और संगठनों की कार्यशौली को उन्होंने नज़दीक से देखा है। इस कहानी का कच्चा माल भी उन्होंने अपने क्रांतिकारी जीवन के यथार्थ प्रसंगों से ही लिया है। इसलिए अज्ञेय की कहानियों में प्रसाद जी की इस तरह की कहानियों के बरक्स हमें अधिक मार्मिकता नज़र आती है। संगठनों के इसी तरह के चरित्र के कारण ही क्रांतिकारी अज्ञेय बाद में क्रांति से मोहभंग की कहानियाँ लिखने लगते हैं।

'अकलंक' भी कुछ इसी तरह की कहानी है जहाँ देश के लिए क्रिस्टाबेल अपने प्रेमी मार्टिन, जिसे वह देशद्रोही समझती है, परंतु असल में जो है अकलंक देश–सेवक ही, को सज़ा दिलाने से भी पीछे नहीं हटती। प्रेम से भी बड़ा एक कर्तव्यबोध है जिसके लिए वह पूर्णतः समर्पित है। यहाँ सवाल विश्वास का भी है। मार्टिन कहना है– ''सैनिक स्वभावतः विश्वास का पात्र होता है। मैं सफाई देकर विश्वास मोल नहीं लेना चाहता।''[64] जिस महत्तर उद्देश्य के लिए व्यक्ति लड़ रहा है और जिसके लिए वह प्राणपण से समर्पित है, वहाँ भी वह अपने व्यक्तित्व से समझौता नहीं कर सकता। 'विश्वास किया जाना' या 'विश्वास कर सकना' वह उसके व्यक्तित्व का हिस्सा है। मार्टिन, क्रिस्टाबेल से कहता है– ''अगर प्रत्येक बात में विश्वास का पात्र होने के लिए प्रमाण देना पड़े, अगर तुम्हारा प्रेम प्राप्त करने के लिए नित्य ही यह दिखाना पड़े कि मैं उसका पात्र हूँ, तो ऐसे प्रेम का क्या मूल्य हैं?''[65] व्यक्ति अज्ञेय के भीतर भी 'विश्वास' का प्रश्न बहुत बड़ा प्रश्न है। 'शेखरः एक जीवनी' में पाठक देखता ही है कि मां के शेखर पर अविश्वास प्रकट करने के कारण बालक शेखर पर उसकी क्या प्रतिक्रया होती है। शेखर मानता है कि ऐसे व्यक्ति से तो कीड़ा होना अधिक श्रेष्ठ है जिसका विश्वास न किया जा सके।

इसी क्रम में 'द्रोही' कहानी आती है। यह एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जो अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए, अपनी प्रेमिका 'कमला' के साथ रहने के लिए अपने साथियों के खिलाफ़ गवाही देता है। यहाँ उस मनःस्थिति का चित्रण है जो समाज हित के बरक्स व्यक्ति–हित या स्वार्थ को महत्त्व देती है। रघुनाथ कहता है–

''निष्ठा क्या है? जिसका हम पालन करें। कर्तव्य क्या है? जिसके लिए हम कष्ट झेलें। प्रतिज्ञा क्या है? जिसे हम निभाएं। पर यह सब उस अखंड निष्ठा, उस प्रकीर्ण कर्तव्य, उस उग्र प्रतिज्ञा के आगे क्या है? उस व्रत के आगे जिसमें माता–पिता, बंधु–बांधव, घर–बार, प्रतिष्ठा, कलंक सब भूल जाने पड़ते हैं? उस आदर्श के आगे जिसका अनुसरण करने वाला पतित होकर भी दिव्य पुरूष होता है?''[66] रघुनाथ के लिए प्रेम ही वह आदर्श है जिसके सामने और कुछ महत्तपूर्ण नहीं। रघुनाथ के भीतर द्वंद्व भी है। द्वंद्व इसलिए कि पहले उसके लिए देश अधिक महत्वपूर्ण था वह कहता था– ''अगर मैं एक दिन के लिए कालिदास, या रवि ठाकुर, या माइकेल एंजेलो, या शेषन्ना हो सकता, तो मुझे जितना आनंद, जितना अभिमान होता, उतना एक समूचे राष्ट्र का विधाता होकर भी नहीं हो सकता। परन्तु उस जीवन का, उसे जीवन के सौ वर्षों का, मैं देश की सेवा में बिताए हुए एक क्षण के लिए प्रसन्नता से उत्सर्ग कर दूँगा, क्योंकि मुझे अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान है, मैं मानता हूँ कि एक दासताबद्ध देश को कवियों और कलाकारों की अपेक्षा योद्धाओं की अधिक आवश्यकता है...।''[67]

यहाँ रघुनाथ की इस उक्ति में हम व्यक्ति की सार्थकता के सवाल को पाते हैं। एक तरफ कहानीकार ने मुख्य पात्र के माध्यम से सर्जनात्मक उपलब्धि के लिए विश्व के चार 'चोटी के कलाकारों–रवि ठाकुर, शेषन्ना, कालिदास और माइकेल एंजलो का नाम लिया गया है और इसके बरक्स राष्ट्र के प्रति नैतिकता की भावना को उकेरा गया है। प्रेम भी मुक्ति का माध्यम है, किंतु वही प्रेम जिसमें किसी वृहत् उद्देश्य के प्रति समर्पण का भाव हो। रघुनाथ का कमला के प्रति प्रेम उसे कायर बनाता है। यहाँ भी सवाल अंततः उस प्रेम की सार्थकता का ही है। अज्ञेय ने जब अपने चिंतनपरक गद्य में मुक्ति को लेकर यह प्रतिज्ञा सामने रखी है कि–'ममेतर ही मुक्ति का मुकुर हो सकता है'– तो यहीं पर 'मुक्ति' एक महत्तर मानवीय–सामाजिक उद्देश्य से जुड़ गई। निश्चय ही अज्ञेय व्यक्ति इकाई की सार्थकता से शुरू करते हैं किन्तु वह यह भी समझते हैं कि यह सार्थकता उसके अकेले की नहीं हो सकती। व्यक्ति इकाई की सार्थकता सदैव दूसरे व्यक्ति में, राष्ट्र

में और अंततः संपूर्ण मानवता के संदर्भ में ही सार्थक होती है। रघुनाथ अंततः कमला की आंखों में भी अपने लिए सम्मान खोजने में असमर्थ रहता है। इसका कारण उसका 'द्रोह' ही है, वही द्रोह जो उसने प्रेम पाने के लिए अपने साथियों से, अपने देश से किया। कमला एक देशद्रोही का सम्मान न कर पाई। इस कहानी की कलात्मक उपलब्धि 'द्रोही' रघुनाथ के अंतर्द्वद्व में है ओर इस द्वंद्व के माध्यम से सार्थकता के वृहत्तर पहचान से। यह द्वद्व 'व्यक्ति' और समाज का द्वंद्व है। व्यक्ति की सार्थकता समाज को बनाने में है और जितना ही व्यक्ति इस निर्माण में सफल होता है उतना ही वह स्वयं को प्राप्त करता जाता है। स्वयं को प्राप्त करना ही मुक्त होना है।

'अंगोरा के पथ पर' कहानी में एंटनी स्टेरास इसी महत्तर उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनी प्रेमिका आरोरा को कार्ल से विवाह करने के लिए प्रेरित करता है और अपने प्राणों को अर्पित करने से भी नहीं डरता। वह कार्ल से कहता है– ''क्या लाखों प्राणियों के सुख के लिए एक आदमी इच्छापूर्वक नहीं मर सकता? तुम्हारे ऊपर क्रांति निर्भर करे, और तुम एक जीवन का मोह करो?''[68] एंटनी यह मानता है कि 'बिना अपने सामर्थ्य के परे हाथ बढ़ाए क्रांति नहीं हो सकती' इसलिए वह अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। अपने को समर्पित करके वह संपूर्णता का अनुभव करता है। इसी तरह की कहानी 'क्षमा' है जो मनुष्य की सहज संवेदना और कर्तव्य की कठोरता के द्वंद्व को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करती है। परिवार की जिम्मेदारियों के आगे देव 'पार्टी' के लिए दिए गए रूपयों को खर्च करने के लिए विवश होता है। उसकी इस विवशता को सुनकर क्रांतिकारी नेता उसे चूम तो लेता है किन्तु उसके विश्वासघात को क्षमा नहीं कर पाता। नेता कहता है– ''तुम्हारा कोई ऐसा भी अपराध है जिसे मैं क्षमा न कर सकूं– विश्वासघात के सिवाय– जिसे मैं क्षमा न कर सकूं।''[69] लेखक ने कहानी के माध्यम से किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति की मजबूरी से अधिक, राष्ट्र और समाज की जिम्मेदारी को अधिक महत्व दिया है। 'द्रोही' कहानी के रघुनाथ और इस कहानी के 'देव' में अंतर केवल इतना ही है कि रघुनाथ ने अपने प्रेम के स्वार्थ में अंधा होकर द्रोह किया और 'देव' ने

अपनी मरण–शैया पर लेटी मां और अभावों में जीती बेसहारा बहिन के प्रति अपनी जिम्मेदारी के तहत 'पार्टी' से विश्वासघात किया। दोनों ही जगह उन्होंने अपने व्यक्तिगत सुख–दुख के लिए एक बड़े लक्ष्य के साथ धोखा किया।

'विपथगा' कहानी में इस बात की ओर तो संकेत है कि क्रांति विपथगा होती है, विध्वंशकारिणी होती है, वहाँ व्यक्ति को अपना सर्वस्व अर्पण करके ही आगे बढ़ना है। साथ ही यह उस बुद्धिजीवी वर्ग की ओर भी संकेत करती है जो क्रांति को केवल दूर से देखकर उसके बारे में भाषण तो दे सकते हैं, किंतु जिन्होंने क्रांति की लपट को महसूस नहीं किया है। इस कहानी का बुद्धिजीवी इतिहास का अध्यायपक है जो पेरिस शहर के एक स्कूल में पढ़ाता है। मनोरंजन के लिए वह देश–विदेश की क्रांतियों का इतिहास पढ़ता है और सभा–सम्मेलनों में इसपर भाषण दे लिया करता है। मेरिया इवानवोना की तरह वह अपना सर्वस्व त्याग कर क्रांति की राह पर नहीं निकला है। बुद्धिजीवी क्रांति का समर्थन तो करता है किन्तु वह अहिंसात्मक क्रांति की बात करता है। उसके लिए अहिंसात्मक क्रांति के द्वारा ही समाज को सुधारा या परिवर्तित किया जा सकता है और क्रांति का लक्ष्य भी समाज–सुधार ही है। मेरिया कहती है– ''क्रांति आंदोलन, सुधार, परिवर्तन कुछ भी नहीं है, क्रांति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन की और विचार की प्रणालियों का घातक विनाशकारी, भयंकर विस्फोट! इसका न आदर्श है, न ध्येय न धुर।''[70]
'शेखरः एक जीवनी' में हिंसा और अहिंसा के प्रश्न पर बाबा मदनसिंह के भी ऐसे ही विचार हैं। वह कहते हैं– ''हमें विनाश के गणों की रचना करनी होगी, सृजन, जन्म–आपके शब्दों में रचनात्मक चीज़–तो अनिवार्य है।[71]

अज्ञेय जिस समय के लेखक हैं उस समय भारत का स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरम पर था। साहित्य भी इससे अछूता नहीं था। उस समय के कई ऐसे बुद्धिजीवी थे जो व्यक्ति के निजि सुख–दुख और स्वार्थों के ऊपर देश को, स्वाधीनता को अत्यधिक बल देते थे। उन्होंने समाज और राष्ट्र की स्वाधीनता में सबकी स्वाधीनता को लक्षित किया। उनमें और अज्ञेय में अंतर केवल इतना ही है कि अज्ञेय सक्रिय बुद्धिजीवी हैं। वह स्वयं क्रांतिकारियों के संगठन में रहे हैं, बर्मा

फ्रंट पर सैनिक के रूप में कार्य किया है। अपनी कहानियों में जिस बात को वह कहते हैं वह पाठक को दूसरों की कहानियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली लगती हैं। 'भवन्ती' में अज्ञेय एक जगह लिखते हैं–''बौद्धिक की आवाज़ को विश्व की अंतर्रात्मा की आवाज़ तभी तक माना जा सकता था जब तक कि नैतिकता का प्रामाण्य एक पारलौकिक, अध्यात्मिक सत्ता पर आधारित था। एक बार नैतिकता को सापेक्ष्य मूल्य मान लीजिए, उसे ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों से जोड़ दीजिए– उसे आप अनिवार्यतया वर्ग स्वार्थों और राष्ट्रीय हितों के अधीन भी कर देंगे।' आगे वह लिखते हैं–'संसार के बौद्धिकों ने दिखा दिया है कि उन्हें निष्ठा से डिगाया जा सकता है, और सारे संसार में समाज उन्हें ऐसा ही मानता है। इसीलिए बौद्धिकों की दुहाइयों और अपीलों का अवमूल्यन हो गया है।' इसी क्रम में आगे वह लिखते हैं– 'आज सार्त्र, बेकेट, शोलोखोव की अपील का उतना असर नहीं होगा, हो नहीं सकता, जितना तीस–चालीस बरस पहले रोमैं रोलां की अपील का होता...।'[72] अज्ञेय का अपने समकालीनों से इसलिए अलग हो जाते हैं क्योंकि वह केवल बुद्धिजीवी रचनाकार नहीं हैं, उन्होंने क्रांति की लपटों को स्वयं महसूस किया है, उसमें झुलसे हैं इसलिए उनका आत्यंतिक मूल्य अधिक है। उनकी बात पाठक को अधिक प्रभावित करती है। 'विपथगा' कहानी के माध्यम से वह बौद्धिकों की समझदारी और सार्थकता पर प्रश्न उठाते हैं।

अज्ञेय जिस कहानी के लिए सर्वाधिक चर्चित है वह कहानी हैं रोज़', जिसका एक और नाम उन्होंने 'गैंग्रीन' दिया है। कहानी के यह दोनों ही नाम, कहानी की संवेदना को भलिभांति अभिव्यक्त करते हैं। यह कहानी है मालती की, जो है तो कथावाचक की दूर की बहन किन्तु दोनों के बीच सख्य भाव ही अधिक है। 'मालती' जो उसकी बाल सखी थी, जो चंचल थी, विवाह के पश्चात उसका जीवन यंत्रवत हो चुका था, ठहर गया था। मालती का जीवन इतना यंत्रचालित हो गया था कि उसके लिए हर चीज का होना मानों रोज़ का प्रतिदिन का काम हो गया था, उसमें कोई भी नवीनता नहीं थी। इतने दिनों बाद उसका बाल–सखा उससे मिलने गया किन्तु चंचल मालती इतनी चुप हो गई है कि घड़ी की सूइयाँ

गिनने के अरिक्ति वह कुछ और नहीं कर पाती। हर दिन पहले दिन जैसे ही बीत जाता है। ऐसा लगता है जीवन मानों केवल जीवन जीने के लिए ही जिया जा रहा है, उसमें कोई उमंग नहीं है। इस 'ऊब' की छाया कथावाचक को घर में प्रवेश करते ही महसूस हो गई थी। उसका जीवन इतना एकरस हो गया है कि बच्चे का रोना, उसकी चिड़चिड़ाहट, उसका बिस्तर पर से अचानक गिर जाना, इन सबके प्रति जो एक माँ के भीतर प्रतिक्रिया होनी चाहिए, वह भी मालती के भीतर नहीं होती। बच्चे के गिर पड़ने पर वह कहती है–''इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज़ ही गिर पड़ता हैं।''[73] कथावाचक जो अंधेरी रात में पूर्णिमा के अनभ्र आकाश को देख सकता था, छिटकी हुई चांदनी को पी सकता था, स्निग्धता और शीतलता को महसूस कर सकता था, मालती और उसका पति महेश्वर दोनों ही इससे कोसों दूर थे। ''मालती ने वह सब–कुछ नहीं देखा, मालती का जीवन अपने रोज़ की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चंद्रमा की चंद्रिका के लिए, एक संसार के लिए रूकने को तैयार नहीं था।''[74] केवल मालती ही नहीं उसके पति महेश्वर का भी जीवन एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चला जा रहा था– 'नित्य वही 'काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खें, वही दवाइयाँ।' दोनों ही प्राणी उकताये हुए, एकरसता और बोरियत के शिकार थे। मालती का प्रत्येक दिन, प्रत्येक कार्य घर घड़ी बजने वाले घड़ी के घंटे से बंध कर रह गया था, जो उसके जीवन की अपूर्णता को बड़ी तीव्रता से दर्शाता है। घर में मेहमान के आने से ही कुछ बदलाव हो जाए, ऐसा भी नहीं था। कथावाचक को यह महसूस होता है कि–''सचमुच उस कुटुंब में कोई गहरी भयंकर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि व उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं।''[75] मालती का जीवन ऐसा लगता है गैंग्रीन रोग से ग्रसित हो गया है। बोरियत और ऊब का ज़हर इस कदर फैल गया है कि कथावाचक को उसका जीवन शापग्रस्त नज़र आने लगता है।

अज्ञेय अपनी डायरी में एक जगह लिखते हैं कि 'ऊब' अपने प्रति की जाने वाली सबसे बडी हिंसा है। ऊब से पीड़ित मालती का नीरस, यंत्रवत, अनैच्छिक, अनुभूतिहीन हो जाना, ये सभी उसके अपने प्रति की जाने वाले हिंसा के ही प्रतीक हैं। यह भी एक तरह का विद्रोह है जो वह अपनी अपूर्णता को प्रकट करने के लिए करती है। उसके जीवन में कुछ है ही नहीं जिसके प्रति समर्पित होकर वह अपनी संपूर्णता को पा सके और मुक्त हो सके। बचपन में पढ़ाई–लिखाई और किताबों से दूर भागने वाली मालती अखबार के एक टुकड़े को पूरा पढ़ जाती है और पढ़ने के बाद उसे एकतरफ फेंक यंत्रवत् अपने काम में लग जाती है। 'पुस्तकें' शायद उसकी जड़ता को कम करने में सहायक हो सकती थी, किंतु वहाँ उसका भी अभाव है।

जड़ता, ऊब, बोरियत यह सब आधुनिकताबोध की कोख से उपजे शब्द हैं, जिनका चित्रांकन 'नई कहानी' के कहानीकारों ने किया है। आधुनिक बोध की पीड़ा का अर्थ है, जीवन का खोखलापन। अज्ञेय की यह कहानी महत्वपूर्ण इसलिए है, क्योंकि यह अपने समय से बहुत आगे की कहानी है। यह कहानी अज्ञेय ने 1931 में लिखी है। यह वह दौर था जब अज्ञेय ने कहानी–लेखन की शुरूआत की थी और ज़्यादातर क्रांतिकारी जीवन से संबंधित कहानियों का ही सृजन करते थे। इस लिहाज़ से 'गैंग्रीन' कहानी विशिष्ट है। आज का आधुनिक जीवन गैंग्रीन से ग्रस्त है, उसमें भी ऊब रूपी विषैला काँटा चुभ गया है। यह काँटा निकाले नहीं निकलता। यह कहानी आधुनिक मानव के जीवन की दर्द भरी अनेकार्थक कहानी कहती है।

एक कहानी है 'ताज की छाया में' जिसमें प्रेम में अमरता प्राप्त करने के लिए शासकों द्वारा किए गए स्थूल प्रयासों पर व्यंग किया गया है तथा प्रेम में अमरत्व या मुक्ति क्या हो सकती है इसको भी बड़े कलात्मक ढंग से लेखक ने प्रकट किया है। ताज की छाया में बैठे हुए अनंत के मन में कई तरह के विचार आते हैं। उसे एक कहानी की याद आती है जिसमें एक सम्राट ने अपनी सम्राज्ञी के न रहने पर देश भर के कलाकारों को इकट्ठा कर अपनी प्रेमिका की याद में एक ऐसी इमारत

बनाने के लिए कहा जैसी कभी देखी न गई हो। उसके जीवन का यही एकमात्र विराट उद्देश्य बन गया जिसके लिए उसने अपनी सारी प्रजा, सारे राजकोष को दाव पर लगा दिया। दस वर्ष के बाद जब इमारत बन कर तैयार हुई तब राजा बूढ़ा हो चुका था, उसके केश जर्ज़र और आंखों की ज्योति क्षीण हो चली थी। उस इमारत के सौंदर्य में वह अभिभूत ही था कि उसकी दृष्टि उस काले पत्थर पर गई जिसके भीतर उसकी प्रेमिका का निस्पंद शरीर पड़ा था। उस अभूतपूर्व सौंदर्य के बीच वह काला पत्थर उसे इतना कुरूप लगा कि उसने उसे वहाँ से हटवाने की आज्ञा दे दी। यह कहानी झकझोरती है। महत्त्व किसका है प्रेम का या उसकी याद में बनी इमारत का? प्रेम अमर करेगा या इमारत अमर करेगी? अनंत सोचता है– ''न सही प्रेम अमर, पर उसके शव पर जो स्मारक खड़े होने हैं, उनका सौंदर्य तो अमर हो सकता है...।''[76] इस उक्ति में कितना मार्मिक व्यंग है। अनंत एक और कहानी याद करता है मिश्र के फराऊन की जिसकी एक बेटी थी और वह अमर होना चाहती थी, 'प्रेम में अमर'! उसका पिता कहता है– ''आदमी का प्यार क्या चींज है? बालू की लिखत–पानी का बुलबुला– अमरत्व मैं तुम्हें दूंगा।''[77] राज्य भर में वह राजकुमारी के स्वयंवर की घोषणा करवा देता है। प्रणयार्थियों को अपनी पात्रता साबित करने के लिए एक काली वज्रशिला का खण्ड लेकर आने के लिए कहता है। वर्षों बीत जाते हैं, शिलाखंड इकट्ठे होते जाते हैं पर राजकुमारी के लिए किसी उपयुक्त पुरूष का चुनाव नहीं हो पाता। राजकुमारी का सौंदर्य भी ढलान पर है पर वह अमर हो गई और उसकी अमरता का प्रतीक है वह शिलाखंडों का ढेर। राजा कहता है– 'अब तुम क्या करोगी मानव का प्यार...।' सजीव आदमी के प्यार से उसका निर्जीव स्मारक बनाना ही यदि अधिक स्थाई है तो फिर आदमी प्रेम न करके उसका स्मारक ही बनवाए, क्योंकि वह लाभकर है! यदि प्रेम के नाम पर इमारत बनवाकर ही अमर हुआ जा सकता हैं तो जो निर्धन है उसका क्या? साहिर लुधयानवी ने ठीक ही लिखा है कि– 'इक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर/हम गरीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक'। इन शहंशाहों ने अपने अमरत्व को रचने के ठोंग में देश की गरीब जनता का लहू और धन लगाया है।

उनके नाम पर बनी निर्जीव प्रतिमानें तो खड़ी रहेंगी किंतु उनका प्रेम जो जीते जी ही मर गया था, मरने के बाद भी उन्हें न अमर कर पाएगा न मुक्त। अनंत अनुभव करता है कि उसका और ज्योति का प्रेम इसी में अमर है कि दोनों ने चांदनी राज में ताज के विराट सौंदर्य को, प्रेम के अमर स्मारक को एकसाथ देखा है।

एक और सवाल जो यहाँ आता है वह कला ही अभिव्यंजना और उसके आस्वादन से जुड़ी पूर्णता के संदर्भ में है। अतंत कहता है–''...आत्माभिव्यंजना का कोई साधन मेरे पास नहीं है, न ही मैं किसी साधन का उपयोग करना जानता हूँ– पर क्या यही मेरे लिए गौरव की बात नहीं है कि मैं कला में अपने को खो सकता हूँ, दूसरों के प्रेम में दूसरों की साधना में निमग्न हो सकता हूँ...।[78] सहृदय व्यक्ति साधारणीकरण के माध्यम से दूसरों की कलाओं का आस्वादन करके भी पूर्ण हो सकता है। सवाल केवल स्वयं को सौंपने का है। सहृदय का समर्पण जिस भी कला माध्यम की ओर होगा वह उसमें स्वयं की अभिव्यक्ति और पूर्णता को प्राप्त कर ही लेगा, ठीक उसी तरह जिस तरह 'असाध्य वीणा' कविता में वीणा से उपजा संगीत सुनकर सभा में बैठे सभी के भीतर अलग–अलग प्रतिक्रिया हुई और उस संगीत में डूबकर 'सब अलग–अलग एकाकी पार तिरे'। यह 'पार तिरना' ही स्वयं को पाना है।

'अछूते फूल' मीरा की कहानी है जो पढ़ी लिखी है और सभ्य–समाज के बीच जिसका एक अलग स्थान है। मीरा के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा था जिसके कारण पुरूष समाज उससे काफी प्रभावित रहता था। मीरा उन पुरूषों से खेलती, उन्हें नचाती, उनसे काम लेती थी। लेकिन इन सबके बीच, इतने पुरूषों के संपर्क में आकर, उनसे मिक्स होकर भी वह उनसे अछूती थी। वह उस मधुमक्खी की तरह थी जो, भलिभांति फूलों के रस से मधु लेकर उसका संचय करती है, पर अपने पंख कभी उस मधु में लिपटने नहीं देती–उससे मुक्त रहती है। जिस समाज से मीरा जुड़ी थी उसमें ऐसा करना उचित ही था। ''भारत के नवसंस्कृत समाज में, जिसमें आचार के पुराने शास्त्र नष्ट हो गए हैं और नए 'स्टेंडर्ड' बन नहीं पाए, स्त्री के लिए अपने शील की रक्षा करते हुए चलना तो बहुत ही बड़ी बात है।''[79] इस

सबके बावजूद भी मीरा संतुष्ट नहीं थी। उसके भीतर की अपूर्णता उसकी बेचैनी और कुढ़न से अभिव्यक्त हो रही थी। ''वह भीतर ही भीतर कुढ़ रही थी, उसके मन में बार–बार एक खुजली सी उठती थी कि किसी से कठोर व्यवहार करे, किसी से लड़े, बुरी तरह पेश आए, किसी को चोट पहुँचाए, किसी चीज़ को बिगाड़े। क्यों, किसे यह सब उसके आगे स्पष्ट नहीं था, पर उसका मन मनुष्य–मात्र के प्रति एक तीखी अप्रीति से लबालब भर गया था और छलका पड़ता था।''[80] राह चलते आदमी की साइकिल में डाल फँसा, उसे गिरता और पीड़ित होता देख वह आनंद का अनुभव करती है। उसे वैसा ही आनंद हो रहा था, जैसा 'बहुत दिनों से कालकोठरी में निकम्मे पड़े हुए कैदी को उस समय होता है, जब उसे मशक्कत दी जाती है।'

मीरा आधुनिक है, पुरूषों के बीच घिरी रहती है। किंतु कोई ऐसा नहीं है जिसने उसके मन को छुआ हो, वह अछूती ही रह गई उस फूल की तरह जो था तो अछूता पर मुरझाया और कुचला जा चुका था। उसकी शिक्षा ने उसे सभ्य समाज के बीच का आकर्षण तो बनाया पर उसे उन्मुक्त नहीं किया। विदेशी शिक्षा उसे वह आलोक न दे पाई जो उसकी अपूर्णता को और उस अपूर्णता से उपजी कुंठा एवं कुढ़न की भावना को मिटा सके।

चौथे खेप की कहानियों में, जिनमें भारत विभाजन की त्रासदी से जन्मी मनःस्थितियों का चित्रण लेखक ने अधिक किया है, उसमें एक कहानी है 'रमंते तत्र देवता'। 'मनुस्मृति' का एक वाक्य है– 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमंते तत्र देवता', यानी जहाँ स्त्री का आदर होता है वहां देवता निवास करते हैं। किन्तु इस कहानी में यह नाम व्यंग के रूप में उभर कर आया है। सरदार बिशन सिंह दंगे में फँसी एक असहाय स्त्री की मदद करना चाहते हैं। उस स्त्री को जब वह उसके पति के॰सी॰ दास के घर छोड़ने जाते हैं, तब वह पुरूष, पत्नी को यह कह कर घर से बाहर निकाल देता है कि रातभर गुरूद्वारे में वह एक पर–पुरूष के साथ रही है। मारने की धमकी दिए जाने पर वह बाद में उसे स्वीकार तो कर लेता है किंतु पति के अहंकार को चोट लगती है। सरदार बिशन सिंह इस तथ्य पर पहुंचता है कि उस स्त्री की अंतिम नियति मृत्यु ही है। वह कहता है– ''हिंदू–धर्म उदार है न, मारना

नहीं, मरने का सब तरह से सुभीता कर देता है।''[81] उस स्थिति में भी जब धर्म और बंटवारे के नाम पर चारों ओर दंगे हो रहे थे, लेखक ने मनुष्य की संवेदना को अपनी कहानियों का आधार बनाया है। एक तरफ पति देवता थे जो इंसान भी नहीं बन पा रहे थे और दूसरी तरफ सरदार बिशन सिंह जिनकी इन्सानियत को तब धक्का लगता है जब उनके सत्कार्य पर भी लांछन लगाया जाता है। सरदार जी निष्कर्ष निकालते हैं कि किसी मजलूम पर किया जाने वाला अन्याय ही नफरत और दंगे का बीज बोता है। ''देवताओं का इन्साफ़ तो हमेशा से यही चला आया है– नफरत के एक–एक बीज से हमेशा सौ–सौ जहरीले पौधे उगे हैं। नहीं तो यह जंगल यहाँ उगा कैसे...। हम रोज़ दिन में कई बार नफ़रत का नया बीज बोते हैं और जब पौधा फलता है तो चीखते हैं कि धरती ने हमारे साथ धोखा किया है।''[82] 'अंगोरा के पथ पर' कहानी में एंटनी का एक डायरी नोट है जिसमें वह लिखता है– ''कार्ल कहता है सिकंदर पागल था– अपने राष्ट्र को दूर–दूर तक फैलाता गया पर उसकी रक्षा नहीं कर सका–व्यर्थ ही इतने प्राण नष्ट किए–एक अपनी व्यक्तिगत तृप्ति के लिए... वह कहता है कि सबको स्वतंत्र होने का अधिकार है, कि एक देश पर दूसरे देश का अधिकार स्थापित करना नीचता है और अन्याय की सीमा है...।[83] यहाँ पर यह उद्धरण देना जरूरी था। मनुष्य अपनी महत्वकांक्षा के दबाव में अन्याय की पराकाष्ठा तक चला जाता है और ये नहीं समझता कि उसके इस कार्य का परिणाम सिवाय हिंसा और मृत्यु और नफ़रत के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उसका हासिल केवल यही है। ये परिस्थितियाँ मनुष्य को ऐसा बना देती हैं कि उसमें सरदार बिशन सिंह जैसा सीधा सरल इन्सान भी कौम के बारे में सोचने लगता है और कृपाण उठा लेता है। मनुष्य दूसरों पर अधिकार जमाकर, उन्हें गुलाम बनाकर सोचता है कि वह ताकतवर हैं, किन्तु जो दूसरे को गुलाम बनाए उसकी आत्मा स्वयं कैसे स्वतंत्र रह सकती है।

'हीलीबोन की बत्तखें' के अंतर्गत प्रौढ़ हो चुकी हीली की कहानी है जो अनब्याही ही रह गई है। कहने के लिए सब कुछ है उसके पास पर बावजूद इसके उसके भीतर एक अपूर्णता है। लोग कहते हैं– 'हीली सुंदर तो है पर स्त्री नहीं हैं।'

उसकी यह अपूर्णता उस समय और घने रूप में प्रकट होती है ज वह वह कैप्टन दयाल की गोली से घायल नर लोमड़ी के शव के साथ मादा लोमड़ी और उसके शिशुओं को लिपटे हुए देखती है। हीली ने विवाह नहीं किया, परिवार नहीं बसाया किंतु लोमड़ी का बसा–बसाया परिवार उसकी बत्तखों के कारण उजड़ जरूर गया। इसकी प्रतिक्रिया में वह अपनी सारी बत्तखों को मौत के घाट उतार देती है और मदद करने वाले कैप्टन दयाल को हत्यारा घोषित कर देती है। हीली के भीतर की अपूर्णता उसे कुंठाग्रस्त बनानी है और उपर्युक्त घटना उस कुंठा की तीव्रता को और बढ़ा ही देती है। बत्तखों को मारकर मानों वह उस कुंठा से मुक्त होने का प्रयास कर रही थी, ठीक उसी तरह जिस तरह 'अछूते फूल' की मीरा ने अपने भीतर का कुढ़न को निकालने के लिए साइकिल सवार को गिराया था। अंतर यही है कि मीरा की कुढ़न उस व्यक्ति को चोट पहुँचाकर कम हुई किंतु नर लोमड़ी के शव को देखकर हीली की कुंठा, उसकी अपूर्णता अपने चरम पर पहुंच गई। लेखक की कलात्मक ऊंचाई हीली की इस अपूर्णता को बड़े ही सूक्ष्म ढंग से अभिव्यक्त करने में है।

'मेजर चौधरी की वापसी' जीवन की चरितार्थता के लिए स्त्री–पुरूष के देह–संबंधों की आवश्यकता का और उसके अभाव में जीवन की निरर्थकता का प्रश्न उठाती है। सैनिक जीवन को आधार बनाकर इस ढंग की कहानी शायद ही किसी और ने लिखी हो। मेजर चौधरी कहते हैं– ''मेरी जांघ और कूल्हे में चोट लगी थी, अब मैं सेना के काम का न रहा पर आजीवन लंगड़ा रहकर भी वैसे ही चलने–फिरने लगूंगा... सिविल जीवन में कई पेशे हैं जो मैं कर सकता हूँ... पर चोटें ऐसी भी होती हैं जिनका इलाज नहीं होता...।''[84] सेना में भरती होने के एक वर्ष पूर्व मेजर चौधरी की शादी हुई थी। नौकरी ऐसी थी कि शायद ही कभी उन्हें पत्नी के साथ समय बिताने का मौका मिल पाया। विवाह के तीन वर्ष बाद भी वह निस्संतान रह गए थे और इस जांघ और कूल्हें पर लगी चोट के कारण आगे संतान उत्पन्न करने की उनकी संभावना भी खत्म हो गई थी। यह ऐसी चोट थी जो जीवन भर के लिए नासूर बन गई। मेजर चौधरी की पीड़ा इन शब्दों में

अभिव्यक्त होती है– ''हमारी कोई संतान नहीं है। और जब–जिसके आगे कुछ नहीं है वह सख्य भी कैसे हो सकता है? उसे–एक संतान का ही सहारा होता...यह ''कम्पैशनेट लीव' अच्छा मज़ाक है– कम्पैशन भगवान को छोड़कर और कौन दे सकता है और मृत्यु के अलावा और होता कहाँ है?''[85] कहा जाता है कि एक दंपति का जीवन संतान के होने से पूर्ण हो जाता है। मेजर चौधरी के लिए यह पूर्णता केवल स्वप्न की बात रह गई थी। अपूर्णता का यह बोध उनके भीतर एक तरह का अवसाद उत्पन्न करता है। उन्हें घर वापसी की कोई खुशी नहीं है, बल्कि ऐसी स्थिति में एक मज़बूरी भर रह गई है।

अज्ञेय की एक कहानी है 'कलाकार की मुक्ति' जिसमें वह रचना और रचनाकार की मुक्ति का प्रश्न उठाते हैं। पिंगमाल्य एक ऐसा कलाकार है जिसे कला की देवी अपरोदिता का वरदान है– उसके हाथ से असुंदर कुछ बन ही नहीं सकता। पिंगमाल्य को स्त्रियों से घृणा है, क्योंकि उसने आसपास विलासिनी स्त्रियाँ ही देखीं। बावजूद इसके उसने अनेकों स्त्री–मूर्तियों का निर्माण किया। एक दिन जब पिंगमाल्य मुग्ध भाव से अपनी ही बनाई मूर्ति को देख रहा था, मूर्ति सजीव हो उठी। संसार की अपरूप सुंदरी उसके सामने थी और वह देवी अपरोदिता से उसे पुनः प्रस्तर मूर्ति बनाने का आग्रह करता है। वह कहता है– ''मेरी जो कला अमर और अजर थी, उसे आपने जरा–मरण के नियमों के अधीन कर दिया! मैंने तो सुख–भोग नहीं मांगा–मैं तो यही जानता आया कि कला का आनंद चिरंतन है।''[86] मूर्ति पुनः पत्थर की हो गई। पिंगमाल्य विचार करता है– ''वह रूप स्रष्टा है, रूप का दास होकर रहना व नहीं चाहता। मूर्ति सजीव होकर प्रेय हो जाए, यह कलाकार की विजय भी हो सकती है, लेकिन कला की निश्चय ही वह हार है।''[87] उसने अपरोदिता के वरदान को ठुकराया, मूर्ति को खण्ड–खण्ड कर दिया। उसके भीतर कहीं यह भी जागता है कि कला की देवी उससे नाराज़ होंगी, कला–साधना में वह अकेला ही रह जाएगा। किंतु कला–साधना में अकेला होना ही तो मुक्त होना है। 'वह आसक्ति से मुक्त हो गया था और देवी से भी मुक्त हो गया था।'

अज्ञेय कला–साधना में निरंतर प्रयोगशील रहे हैं, स्वयं को उन्होंने हर साहित्यिक 'वाद' और गुटबंदी से मुक्त रखा है, यही कारण है कि उन्हें कई तरह के साहित्यिक हमलों, व्यक्तिगत आक्षेपों का भी सामना करना पड़ा है। अज्ञेय इन विवादों और प्रत्याख्यानों से सदैव बचते रहे और मौन होकर रचना में मुखर होते गए। कला साधना में अकेले हो वह उसके प्रति ईमानदारी से समर्पित हो सके थे। कला उनके लिए श्रेय ही रहती है, प्रेय नहीं। 'अकेलापन' नामक अपने एक निबंध में अज्ञेय लिखते हैं– ''अगर कहूँ कि भारतीय संस्कृति की यह प्रवृत्ति रही है कि व्यक्ति अकेला होकर अपने को देखे तो मुझे पलायनवादी के साथ–साथ प्रतिक्रियावादी भी कहा जाएगा– अतीत की ओर पलायन करने वाला, पुनरूत्थानवादी, पुरातनवादी... भारतीय संस्कृति या धर्म की प्रवृत्ति साधारणतया या मुख्यतया निवृत्ति की ओर ही रही है; क्या पांच सात हज़ार वर्ष की यह परम्परा केवल पलायन ही रही।''[88] अकेलेपन को अज्ञेय ने कला–साधना में सहायक ही माना, फिर चाहे इसे पलायनवाद ही क्यों न समझा गया हो!

अज्ञेय के सम्पूर्ण कथा साहित्य को मुक्ति के संदर्भ में विश्लेषित करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकल कर सामने आता है कि 'मुक्ति का अर्थ यहाँ मम् का ममेतर से जुड़ना ही है। मुक्त वही है जो किसी बड़े या महत्तर लक्ष्य के प्रति स्वयं को समर्पित कर पाया है। जहाँ व्यक्ति केवल 'मम्' तक संकुचित रह गया है वहाँ कई तरह की अपूर्णताएँ पैदा हुई हैं और इन अपूर्णताओं के प्रतिक्रिया स्वरूप व्यक्ति कई तरह की कुंठाओं, अंतर्द्वंद्वों का शिकार हुआ है और इसे विद्रोह या हिंसा (अपने अथवा समाज के प्रति) के द्वारा अभिव्यक्त किया है। शेखर स्वभावतः विद्रोही है, किंतु शशि के माध्यम से जब वह सोद्देश्य रचनाशीलता की ओर उन्मुख होता है और अपने समाज के बारे में सोचता है, तब वह अपने को सार्थक पाता हैं। 'नदी के द्वीप' में मुक्ति की व्याख्या प्रेम के संदर्भ में मिलती है। प्रेम वही जो स्वयं को मुक्त रखने के साथ–साथ दूसरे को भी मुक्त करे। 'अपने–अपने अजनबी' में बूढ़ी मरणासन्न सेल्मा के माध्यम से भी यही भाव दृष्टव्य होता है कि मुक्ति केवल 'आस्था' में 'दान' में संभव है। अपने को दूसरे के साथ साझा करके ही पूर्ण हुआ

जा सकता है। यान के साथ 'साझेपन' के लिए वह प्रस्तुत होती है। यह जानने हुए भी कि वह मरने वाली है उसके भीतर की आस्था नहीं मरती। कहानियों के कुछ चरित्रों का विश्लेषण करें तो पाएँगे कि 'हारिती', 'मेरिया' , 'एन्टनी', 'मार्टिन' आदि जो महत्तर लक्ष्य के लिए स्वयं को अर्पित कर देते हैं, अपने को पूर्ण और मुक्त पाते हैं। वहीं 'रघुनाथ', 'हीली', 'मालती', 'मीरा' आदि का भी चरित्र है जो भीतर के खोखलेपन, ऊब और अपूर्णता को मिटाने के लिए स्वयं पर या दूसरों पर हिंसा करते हैं अथवा अंतर्द्वंद्व में जीते हैं तथा मुक्त नहीं हो पाते।

संदर्भ सूची

[1] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–4), पृ॰सं॰ 7, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2012, तीसरा संस्करण।

[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ॰सं॰ 60, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2011, छठा संस्करण।

[3] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–4), पृ॰सं॰ 50, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2012, तीसरा संस्करण।

[4] वही, पृ॰सं॰ 497।

[5] वही, पृ॰सं॰ 17।

[6] वही, पृ॰सं॰ 485–486।

[7] वही, पृ॰सं॰ 480।

[8] वही, पृ॰सं॰ 37।

[9] वही।

[10] निरंजन कुमार, अज्ञेय की स्वाधीनता की अवधारणा : विशेष संदर्भ शेखर : एक जीवनी, आलोचना (अप्रैल–जून 2011), पृ॰सं॰ 153।

[11] वही, पृ॰सं॰ 153।

[12] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–4), पृ॰सं॰ 62, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2012, तीसरा संस्करण।

[13] वही, पृ॰सं॰ 17।

[14] रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ॰सं॰ 62, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2011, छठा संस्करण।

[15] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–4), पृ॰सं॰ 353, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2012, तीसरा संस्करण।

[16] वही, पृ॰सं॰ 379।

[17] वही, पृ॰सं॰ 60।

[18] वही, पृ॰सं॰ 68।

[19] वही, पृ॰सं॰ 69।

[20] वही, पृ॰सं॰ 71।

[21] वही, पृ॰सं॰ 89।

[22] वही, पृ॰सं॰ 117।

[23] वही, पृ॰सं॰ 222।

[24] वही, पृ॰सं॰ 247।

[25] वही, पृ॰सं॰ 259।

[26] वही, पृ॰सं॰ 266।

[27] वही, पृ॰सं॰ 287।

[28] वही, पृ॰सं॰ 354।

[29] वही, पृ॰सं॰ 443।

[30] वही, पृ॰सं॰ 448।

[31] वही।

[32] वही, पृ॰सं॰ 502।

[33] कृष्णदत्त पालीवाल, अज्ञेय, पृ॰सं॰ 115, प्रकाशन विभाग नई दिल्ली, 2012।

[34] अज्ञेय, नदी के द्वीप, फ्लैप, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2016, दूसरा संस्करण।

[35] वही।
[36] अज्ञेय, आत्मपरक, पृ॰सं॰ 64, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 1983, प्रथम संस्करण।
[37] वही, पृ॰सं॰ 64।
[38] रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ॰सं॰ 75, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2011, छठा संस्करण।
[39] अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ॰सं॰ 24, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2016, दूसरा संस्करण।
[40] वही, पृ॰सं॰ 218।
[41] वही, पृ॰सं॰ 275।
[42] वही, पृ॰सं॰ 42।
[43] अज्ञेय, आत्मपरक, पृ॰सं॰ 73, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 1983, प्रथम संस्करण।
[44] अज्ञेय, नदी के द्वीप, पृ॰सं॰ 148, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2016, दूसरा संस्करण।
[45] वही, पृ॰सं॰ 196।
[46] वही, पृ॰सं॰ 72।
[47] वही, पृ॰सं॰ 311।
[48] वही, पृ॰सं॰ 310।
[49] अज्ञेय, आत्मपरक, पृ॰सं॰ 62, नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 1983, प्रथम संस्करण।
[50] रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ॰सं॰ 92, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2011, छठा संस्करण।
[51] भोलाभाई पटेल, अज्ञेय : एक अध्ययन, पृ॰सं॰ 247, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2012 आवृत्ति।
[52] वही, पृ॰सं॰ 247।
[53] अज्ञेय, अपने–अपने अजनबी, पृ॰सं॰ 25, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2012, तेइसवां संस्करण।
[54] वही, पृ॰सं॰ 18।
[55] वही, पृ॰सं॰ 30।
[56] भोलाभाई पटेल, अज्ञेय : एक अध्ययन, पृ॰सं॰ 263, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2012 आवृत्ति।
[57] अज्ञेय, अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँ, पृ॰सं॰ 43, राजपाल एंड संज़ नई दिल्ली, 2005।
[58] वही, पृ॰सं॰ 6।
[59] वही, पृ॰सं॰ 19।
[60] वही।
[61] वही, पृ॰सं॰ 20।
[62] वही, पृ॰सं॰ 21।
[63] वही, पृ॰सं॰ 45।
[64] वही, पृ॰सं॰ 67।
[65] वही।
[66] वही, पृ॰सं॰ 71–72।
[67] वही, पृ॰सं॰ 72।
[68] वही, पृ॰सं॰ 174।
[69] वही, पृ॰सं॰ 156।
[70] वही, पृ॰सं॰ 97।
[71] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–4), पृ॰सं॰ 312, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2012, तीसरा संस्करण।
[72] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–9), पृ॰सं॰ 133, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।
[73] अज्ञेय, अज्ञेय की संपूर्ण कहानियाँ, पृ॰सं॰ 214, राजपाल एंड संज़ नई दिल्ली, 2005।
[74] वही, पृ॰सं॰ 214।

[75] वही, पृ॰सं॰ 215।
[76] वही, पृ॰सं॰ 217।
[77] वही।
[78] वही, पृ॰सं॰ 278।
[79] वही, पृ॰सं॰ 350।
[80] वही।
[81] वही, पृ॰सं॰ 499।
[82] वही।
[83] वही, पृ॰सं॰ 169।
[84] वही, पृ॰सं॰ 544।
[85] वही, पृ॰सं॰ 549।
[86] वही, पृ॰सं॰ 601।
[87] वही, पृ॰सं॰ 602।
[88] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–13), पृ॰सं॰ 77, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

अध्याय पांच

अज्ञेय की मुक्ति–सम्बन्धी कविताओं का आलोचनात्मक अध्ययन

अज्ञेय का सम्पूर्ण सृजन–कर्म अर्थवत्ता की तलाश है। मानस मुकुलदास ने अज्ञेय की सृजन–यात्रा को 'जीवन शिल्पी की कला' कहा है। अज्ञेय निरन्तर शोधन में लगे रहने वाले कलाकार हैं। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी वे कुछ–कुछ वैसे ही रहे हैं। वे शाश्वत और युगीन प्रश्न जो मनुष्य को अपूर्णताओं और अपर्याप्ताओं से घेरे रहते हैं। अज्ञेय को अपनी जीवन–यात्रा में इनका बोध होता चला गया है। प्रारम्भिक अज्ञेय में बहुत से विषयों को लेकर जो एक किस्म की रूमानियत दिखती है, वह उत्तरोत्तर खत्म होती गई है। अज्ञेय के कृतित्व में रोमाण्टिक भावबोध से आधुनिक भावबोध के संक्रमण को सदैव लक्ष्य किया जाता रहा है। 'इत्यलम्' में आते–आते यह संक्रमण पूरा होता दिखने लगता है और 'हरी घास पर क्षण भर' वे बिल्कुल अलग तेवर सामने रखते हैं। इस अलग रास्ते की तलाश 'चिन्ता' और 'भग्नदूत' में भी दृष्टव्य होती है। हाँलाकि, इन प्रारम्भिक संग्रहों की अधिकांश कविताएं छायावादी कवियों के अनुशरण पर लिखी गई हैं। अज्ञेय इन संग्रहों में प्रसाद और महादेवी के शिल्पगत प्रयोगों का अभ्यास करते दिखाई पड़ते हैं। गीत की विधा के चुनाव से लेकर, भाव और शब्द चयन पर भी प्रसाद और महादेवी का गहरा प्रभाव है। परन्तु इनमें इस प्रभाव से मुक्त होने की बेचैनी भी। बेचैनी से अधिक अज्ञेय का नवीन भावबोध है जो पुराने शिल्प और शब्दावली में व्यक्त हो रहा है। भावबोध के इसी विस्तार के कारण ये कविताएँ शिल्प की दृष्टि से कमजोर जान पड़ती हैं। ये समय अज्ञेय के लिए सम्प्रेषण की एक नई प्रणाली की तलाश का समय है। यही कारण है कि पुराने शिल्प में अपनी बात न कह पाने के कारण वे गद्यकाव्य का सहारा लेते हैं।

इन संग्रहों की अधिकांश कविताओं का विषय प्रेम है। वह भी एक ऐसे व्यक्ति की अभिव्यक्ति है, जिसे अपनी आसन्न मृत्यु का आभास है। ऐसे क्षण में अज्ञेय अपनी सार्थकता, अपने जीवन की सार्थकता को प्रेम की अनुभूति में खोजते नज़र आते हैं। ये अज्ञेय का युवा काल भी है। अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से अज्ञेय की इन प्रारम्भिक कविताओं का कलेवर भिन्न है। छायावादी काव्य अपनी सामाजिक सीमा के कारण प्रेम को एक ही आयाम में देखता रहा है। परन्तु अज्ञेय ने इन कविताओं में भावों और अनुभूतियों के ब्यौरों के साथ प्रेम की विडम्बना के भी चित्र खींचे है।

''मैं अपने को एकदम उत्सर्ग कर देना चाहता हूँ किन्तु कर नहीं पाता। मेरी इस उत्सर्ग–चेष्टा को तुम समझतीं ही नहीं।

अगर मैं सौ वर्ष भी जी सकूँ, और तुम मुझे देखती रहो, तो मुझे नहीं समझ पाओगी।

इसलिए नहीं कि मैं अभिव्यक्ति की चेष्टा नहीं करता, इसलिए नहीं कि मैं अपने भावों को छिपाता या दबाता हूँ।

मैं हजार बार अभिव्यक्ति का प्रयत्न करता हूँ, किन्तु उस का फल मेरे भाव नहीं होते, उन में 'मैं' नहीं होता। वे होते हैं केवल एक छाया मात्र, मेरे मन के भावों की प्रतिक्रिया मात्र... मेरे भावों की तत्समता उन में नहीं होती, यद्यपि उन का एक–एक अणु मेरे किसी न किसी भाव से उद्‌भूत होता है।

मैं कवि हूँ, किन्तु मेरी प्रतिभा अभिशप्त है। संसार का चित्रण करने का सामर्थ्य रखते हुए भी मैं अपने को नहीं व्यक्त कर सकता।''[1]

इस दौर की कविताओं के विषय में प्रणय कृष्ण ने लिखा है, ''इस दौर की रचनाओं की संवेदना इनके शिल्प और भाषा से आगे चलती है।''[2] प्रणय कृष्ण ने ये

निष्कर्ष इन प्रारम्भिक संकलनों की प्रेम और मृत्यु से सम्बन्धित कविताओं को एक दूसरे के संदर्भ में व्याख्यायित करके निकाला है। वे कहते है कि अज्ञेय के इस दौर की प्रेम कविताओं में मृत्यु का निषेध है, वह रूमानियत के प्रभाव से पैदा हुआ है। अज्ञेय ने क्रमशः मृत्यु के निषेध से आगे बढ़कर मृत्युभय के निषेध को मुक्ति के संदर्भ में उपलब्ध किया है। परन्तु ऐसी कविताएँ 'इत्यलम्' संग्रह के बाद की है। अज्ञेय की एक कविता है विज्ञप्ति–

'' फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो,
जीवन का रस लो
देह–मन–आत्मा की रसना से
पर जो मरे
उसे मर जाने दो।
जरा हैं भुजा तितीर्षा की
मत बनो बांध–
जिजीविषु को
तर जाने दो।
आसक्ति नहीं,
आनन्द है
सम्पूर्ण व्यक्ति की
अभिव्यक्ति
मरूँ मैं, किन्तु मुझे
घोषित यह कर जाने दो।''[3]

अज्ञेय जहाँ प्रेम की अनुभूति को अमरता के क्षण में देखने लगते हैं। बल्कि प्रेम ही उन्हें सारी अपूर्णताओं के घेरे से बाहर ले आता है। औपनिषदिक ऋषिओं को आत्मसाक्षात्कार के द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त होती थी। अज्ञेय उसे प्रेम की अनुभूति में तदाकार होकर पा लेते हैं। इस प्राप्ति के साथ मृत्यु के निषेध की रूमानी दृष्टि भी बदल जाती है–

''साँस का पुतला हूँ मैं :
जरा से बँधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूं,
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवन्मुक्त मैं किया गया हूँ।''[4]

इसके संकेत 'चिन्ता' संग्रह में मिलने लगे थे। परन्तु वहाँ रोमाण्टिक किस्म का आत्मोत्सर्ग था। शुरूआती कविताएं 'जीवन्मुक्त' प्रेम की अनुभूति से प्राप्त कोई दार्शनिक समाधान न होकर प्रेयसी के साथ रहने और जीवन बितानी की अभिलाषा थी–

''तुम गूजरी हो, मैं तुम्हारे हाथ की वंशी। तुम्हारे श्वास की एक कम्पन से मैं अनिर्वचनीय माधुर्य–भरे संगीत में ध्वनि हो उठता हूँ।

ये गायें हमारे असंख्य जीवनों के असंख्य प्रणयों की स्मृतियाँ हैं। वंशी की ध्वनि सुनते ही ये मानों किसी भूले हुए संगीत की झंकार सुन कर चौंक उठती हैं।

तुम और मैं मिलकर इस छोटे–से मण्डल को पूरा करते हैं। तुम्हारी प्रेरणा से मैं ध्वनित हो उठता हूँ, और उस ध्वनि की प्रेरणा से हमारी चिरन्तर प्रणय–कामनाएँ पूरीकरण में लीन हो जाती है।

यही हमारे प्रेम का छोटा–सा किन्तु सर्वतः सम्पूर्ण संसार है।''[5]

धीरे–धीरे ये ब्यौरे अज्ञेय की प्रेम कविताओं से छटने लगे। प्रारम्भ की इस कविता में जहाँ अज्ञेय अपनी प्रेयसी के साथ एक छोटा–सा पूर्ण संसार बसाना चाहते हैं। वहीं बाद में प्रेम को 'अगल हो जाने का' नाम देते हैं। अपने प्रौढ़ काल में कवि प्रेम के माध्यम से व्यक्तित्व की उपलब्धि की बात करने लगता है। प्रेमी–प्रेमिका इस अनुभूति से अलग–अलग आपने को पूर्ण हुआ पाते हैं। अज्ञेय की काव्य पंक्तियां है–

''प्यार अकेले हो जाने का एक नाम है
यह तो बहुत लोग जानते हैं
पर प्यार अकेले छोड़ना भी होता है इसे
जो कभी नहीं भूली
उसे जिसे मैं कभी नहीं भूला...''[6]

अज्ञेय ने अपनी डायरी में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''प्यार में 'वह' (या 'तुम') और 'मै' जितना ही एक दूसरे के निकट आते हैं, उतना ही 'वह' 'वह' (या 'तुम') होता जाता है और 'मैं' 'मैं'। प्यार वह ताव है जिसमें मैल जल जाता है (जलकर 'एक' हो जाता है– राख में!) और धातु निखर आता है– निखरकर और भी अलग, अद्वितीय।''[7] साथ और साहचर्य के चित्र प्रौढ़कालीन प्रेम कविताओं में नहीं हैं। अनुभूतिगत मूल्य के रूप में प्रेम को उपलब्ध करने वाली अज्ञेय की एक और कविता से बात स्पष्ट हो जायेगी–

''एक दिन रुक जायेगी जो लय
उसे अब और क्या सुनना?
व्यतिक्रम ही नियम हो तो
उसी की आग में से
बार–बार, बार–बार

मुझे अपने फूल हैं चुनना।
चिता मेरी है : दुख मेरा नहीं।
तुम्हारा भी बने क्यों, जिसे मैंने किया है प्यार?
तुम कभी रोना नहीं, मत
कभी सिर धुनना।
टूटता है जो उसे भी, हां कहो संसार
पर जो टूट को भी टेक दे, ले धार, सहार,
उस अनन्त, उदार को
कैसे सकोगे भूल–
उसे, जिस को वह चिता की आग
है, होगी, हुताशन–
जिसे कुछ भी, कभी, कुछ से नहीं सकता मार–
वही लो, वह रखो साज–सँवार
वह कभी बुझने न वाला
प्यार का अंगार।''[8]

अज्ञेय जहां एक ओर प्रेम की अनुभूति में जीवन की सार्थकता और मृत्यु के निषेध से मुक्ति पाते हैं। वहीं यह सार्थक और मुक्त व्यक्ति पूर्ण व्यक्तित्व बनता जाता है। अपने इसी बोध के कारण अज्ञेय प्रेम की दो अनिवार्य विडम्बनाओं–Possessiveness और Obsession से अपने को बचा पाते हैं।

मृत्युबोध से जन्मी अपूर्णता को अज्ञेय प्रेम की अनुभूति से तो पाटते ही हैं। साथ ही चक्रीय काल की अवधारणा से उत्पन्न निरवधि काल में जीने के बोध द्वारा भी अज्ञेय नश्वरताबोध से मुक्ति का समाधान पाते हैं। वैदिक साहित्य को उक्ति है–

''देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।''[9]

उनकी काव्य चेतना की बनावट में घुला मिला है। इसीलिए मृत्यु उनके समक्ष निस्सारता का बोध उत्पन्न नहीं करती है–

''झरना : झरता पत्ता
हरी डाल से
अटक गया।''[10]

अपनी इन काव्य–पंक्तियों के सन्दर्भ में अज्ञेय लिखते है कि ''मेरी समझ में तो यह प्रक्रिया का पूर्ण चित्र है और मैं उसी चित्र में बहुत अटका हूँ। मेरी दीठ भी वहीं अटकी है और मेरा ध्यान भी वहीं अटका है। नश्वरता का मेरे लिए कभी कुछ विशेष अर्थ नहीं हुआ लेकिन हर चीज मिटती हुई किसी प्राणवान चीज की प्राणवत्ता में अपना योग दे जाती है, यह मैंने बार–बार देखा है और हर बार पाया है कि इस से अन्तःस्फूर्ति मिलती है जो स्वयं प्राणदायिनी है।''[11] इसी अन्तः स्फूर्ति के कारण प्रकृति के हर क्रियाकलाप में उन्हें आनन्द मिलता है और अज्ञेय प्रकृति के निकटम पहुँच पाते हैं–

''सवेरे उठा तो धूप खिल कर छा गई थी
और एक चिड़िया अभी–अभी गा गई थी।
मैंने धूप से कहाः मुझे थोड़ी गरमाई देगी उधार?
मैंने घार की पत्ती से पूछा : तनिक हरियाली दोगी–
तिनके की नोक–भर?
शंखपुष्पी से पूछाः उजास दोगी–
किरण की ओक–भर?

मैंने हवा से मांगा : थोड़ा खुलापन–बस एक प्रश्वास,

लहर से : एक रोम की सिहरन–भर उल्लास।

मैंने आकाश से मांगी

आँख की झपकी– भी असीमनता– उधार।''[12]

एक प्रश्वास भर का खुलापन, रोम की सिहरन भर का उल्लास और आंख की झपकी भर की असीमता। ऐसे बिम्ब अज्ञेय की कविताओं में बहुतायत में मिलते हैं। ये बिम्ब अज्ञेय के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ–साथ उनकी विशेष काव्य–दृष्टि को भी सूचित करते हैं। समूचे विराट के सम्मुख एक छोटा कण भी अनुभव की अद्वितीयता के कारण अपनी इयत्ता में उस विराट को उद्‌भाषित कर देता है। डॉ रामविलास शर्मा ने अज्ञेय के प्रकृति चित्रण के विषय में लिखा है कि ''प्रकृति प्रेम नैसर्गिक है, खेतों खलिहानों से दूर साधारणरतः उनका मन ऐसे प्राकृतिक दृश्यों में रमता है जो सामान्य हिंदी पाठकों के लिए असाधारण होते हैं। शब्दों और उपमानों की तरह वह इस तरह के दृश्य भी काफी अनुसंधान के बाद प्राप्त करते हैं। वर्ड्‌सवर्थ का प्रकृति चित्रण काफी सुरभित किस्म का माना जाता है। फिर भी वर्ड्‌सवर्थ निर्जन प्रकृति का कवि नहीं है, वह प्रकृति के संसर्ग में निर्धन, पीडित, संघर्षरत मनुष्यों को भी देखता है। पर अज्ञेय की प्रकृति को मनुष्य का अस्तित्व गंदा नहीं करता।''[13]

रामविलास जी की आधी बात तो सत्य है कि अज्ञेय प्रकृति के दृश्यों का भी अनुसंधान करते हैं। परन्तु इस उद्धरण में जो व्यंग्य का पुट है, वह अज्ञेय के प्रकृति–चित्रण को सही सन्दर्भ में न समझने के कारण किया गया है। इस संदर्भ में अज्ञेय की दो कविताएं दृष्टव्य है। पहली औद्योगिक बस्ती–

'' पहाडी पर घिरी हुई इस छोटी–सी घाटी में

ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर

धुँआ उगलती जाती है।

भीतर जलते धातु के साथ

कमकरों की दुःसाध्य विषमताएँ भी

तप्त उबल जाती हैं।

बंधी लीक पर रेलें लादें माल

चिहुँकती और रंभाती अफ़राये डाँगर–सी

ठिलती चलती जाती हैं।

उद्यम की कड़ी–कड़ी में बंधते जाते मुक्तिकाम

उस को छलती जातीं हैं।''[14]

और दूसरी कविता है 'नन्दा देवी'–

''ऊपर तुम, नन्दा!

नीचे तरु–रेखा से

मिलती हरियाली पर

विखरे रेवड को

दुलार से टेरती–सी

गड़रिये की बाँसुरी की तान

और भी नीचे

कट गिरे वन की चिरी पट्टियों के बीच से

नये खनि–यन्त्र की

भट्ठी से उठे धुएँ का फन्दा।

नदी की धरेती–सी वत्सल कुहनी के मोड़ में

सिहरते–लहरते शिशु धान।

चलता ही जाता है यह

अन्तहीन, अन–सुलझा

गोरख–धन्धा।

दूर, ऊपर तुम, नन्दा!''[15]

दोनों ही कविताओं में मनुष्य के अस्तित्व से प्रकृति के गंदा किये जाने का चित्र है। अज्ञेय ने अपने सैनिक जीवन के दिनों से जुड़े कुछ अनुभवों के विषय में बताया है कि उस समय कुछ सैनिक तालाब में डायनामाइट के विस्फोट करते थे। विस्फोट के कारण बहुत सी मछलियाँ मर कर तट के किनारे आ जाती थीं। सैनिक उनमें से कुछ का ही अपने भोजन में प्रयोग करते थे। जीवन के इस अपव्यय ने अज्ञेय को भीतर तक उद्वेलिक किया था। अज्ञेय के भीतर 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' का सार ही उन्हें ऐसे बोध तक ले जाता है, जिससे वे प्रकृति के कार्य–व्यापार को उत्सव की तरह देख पाते हैं। संवत्सर में घास के तिनके पर पड़ी ओस के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि ''बहुत से लोगों की क्या कहिए जिन्हें ओस की बूंद में केवल नश्वरता दीखती है और धूप का चमत्कार नहीं दीखता? यह ठीक है कि धूप पड़ते ही ओस की बूंद भाप बन कर उड़ने लगती हैं। यह भी ठीक है कि भोर की पहली किरण के साथ ही प्रायः हवा भी सरसरा उठती है और घास की पत्तियों के हिलने से ओस की बूंदें एक–दूसरे से मिलती हैं और मिलते ही भार के कारण झर जाती हैं– देखने वाले न हों तो इस में यह भी 'देखेंगे' कि मिलन का क्षण भी कितना नश्वर है। ... लेकिन जो लोग देखना भूल कर केवल ध्यान देने में खो जाते हैं वे ध्यान भी तो पूरा नहीं देते : नहीं तो ध्यान में तो यह बात भी आनी चाहिए कि ये सारी की सारी छोटी क्रियाएं एक महान् प्रक्रिया के अंग हैं और वह महान् प्रक्रिया न सान्त है, न नश्वर।''[16]

इसी देख पाने के कारण अज्ञेय प्रकृति के कार्य–व्यापार में उस चिरन्तरता को पहचानते हैं, जो एकरेखीय कालबोध से उत्पन्न मृत्यु की सर्वग्रासी छाया से उन्हें बचाती है। और यहीं अज्ञेय यूरोपीय आधुनिक कवियों के दृष्टियों से विशिष्ट ही जाते हैं। 'जीवंत क्षण' की उपलब्धि अज्ञेय को भी हुई है–

''मैंने देखा
एक बूंद सहसा
उछली सागर के झाग से
रंगी गई क्षण–भर
ढ़लते सूरज की आग से।
मुझको दीख गया
सूने विराट् के सम्मुख
हर आलोक–छुआ अपनापन
है उन्मोचन
नश्वरता के दाग़ से!''[17]

जीवंत क्षण की ऐसी उपलब्धि इलियट को गुलाब बाड़ी के क्षण में हुई थी। परन्तु वह इसे अपने लिए शाश्वत आयाम में सुरक्षित नहीं रख सकता था। भारतीय चिन्तन की तरफ आकर्षित होते हुए इलियट को एक बार तो ऐसा लगने लगा था कि कहीं वे अपनी यूरोपीय अस्मिता को ही न खो बैठें। अज्ञेय के सम्मुख यह संकट नहीं था। अज्ञेय ने निरवधि काल के महावृत्त के नीचे अपनी पायी गई जीवंत क्षण की अनुभूति को शाश्वत आयाम में सुरक्षित रख सकने की सुविधा पायी है। इसीलिए अज्ञेय के लिए सर्वत्र जीवन आनंद की उपलब्धि के रूप में ही रहा है और मृत्यु उनके लिए

अस्तित्व की समस्या के रूप में सामने नहीं आयी है। इस जीवंतता को वे 'उधार' कविता में व्यक्त करते हैं–

''यों मैं जिया और जीता हूँ
क्योंकि यही सब तो है जीवन
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला,
गन्धवाही मुक्त खुलापन,
लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,
और बोधभव्य निर्व्यास निस्सीम का''[18]

साथ ही उन्हें बोध है कि ये सारे द्रव्य उन्होंने 'उधार' पाये हैं। यह उधार पाना त्यागपूर्वक भोग के औपनिषदिक आदर्श की ही कलात्मक अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि अज्ञेय मनुष्य द्वारा प्रकृति के अनावश्यक नाश से व्यथित होते हैं। 'नन्दादेवी' और 'औद्योगिक बस्ती' कविताएँ इसी व्यथा का चित्र हैं। इसलिए रामविलास जी का अज्ञेय के प्रकृति–चित्रण के सम्बन्ध में किया गया व्यंग्य प्रयोजनहीन और निस्सार मालूम पड़ता है।

अज्ञेय की काव्य संवेदना में प्रेम पर लादी गई रूढ़ नैतिकता की जकड़बंदी से भी मुक्त होने की चिन्ता दिखायी पड़ती है। 'हरी घास पर क्षण भर' कविता में वे उस सामाजिक स्वीकृति की माँग करते हैं जो विवेकशील व्यक्तियों को उनके प्रणय–सम्बन्धी निर्णयों के सम्बन्ध में सदैव जड़ किस्म की नैतिकता के कारण व्यवधान पैदा करती है। हिन्दी के वे उपन्यास जिनका देशकाल प्राचीन भारत की पृष्ठभूमि में निर्मित हैं। उनमें ऐसे पात्र चित्रित किये गये हैं जो अपनी निजी भावनाओं के सामाजिक प्रकटीकरण में तनिक भी संकोच नहीं करते। वह देशकाल आज की सामाजिक वर्जनाओं से मुक्त था। मध्यकाल ने जो जड़ता हमारे समाज में पैदा की वह

आधुनिक युग में आकर प्रश्नांकित की जा सकी। 'हरी घास पर क्षण भर' कविता में अज्ञेय का तेवर पूर्णतः आधुनिक किस्म के कलाकार का है, जो स्वच्छंद ढंग से व्यक्तित्व के विकसित हो सकने वाले समाज की मांग करता है। यह मांग जितनी समाज से है उतनी ही स्वयं से भी है। इसीलिए वे अपनी प्रेयसी से भी माँग करते हैं

''आओ, बैठो।
तनिक और सट कर, कि हमारे बीच स्नेह भर कर व्यवधान रहे,
बस''[19]

और

''चाहे बोलों, चाहे धीरे–धीरे बोलो, स्वगत गुनगुनाओ,
चाहे चुप रह जाओ–
हो प्रकृतस्थः तनो मत कटी–छंटी उस बाड़ सरीखी
नमो, खुल खिलो, सहज मिलो
अंतःस्मित, अंतःसंयत हरी घास–सी।''[20]

अज्ञेय रागात्मक–सम्बन्धों की नई प्रणाली में उसके सामाजिक स्वीकृति की चिन्ता करते हैं तो यह केवल स्वयं के लिए पाई जा सकने वाली सुविधा–मात्र नहीं है। वरन् वे पूरे समाज को उन रूढ़ियों से बाहर आने की प्रेरणा देते हैं। रागात्मक–सम्बन्धों की बदली प्रणाली के कारण अज्ञेय पुराने मुहाविरों में अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में स्वयं को असमर्थ महसूस करते हैं। एक दौर था जब प्रेमी–प्रेमिका मेले में एक दूसरे से थोड़ी दूरी बनाकर इशारों में अपनी बातों का इजहार करते थे। भारतीय समाज ने शास्त्रीयकरण करने की अपनी मेधा के कारण इन इशारों और संकेतों के वर्गीकरण का भी शास्त्र रच डाला है। बिहारी आदि की नायिकाएँ इस शास्त्र में पारंगत भी है। परन्तु अज्ञेय अपनी निजी भावनाओं की अभिव्यक्ति के स्वस्थ सामाजिक अवकाश की मांग

करते हैं। रागात्मक सम्बन्धों की प्रणाली में आये इस परिवर्तन के कारण ही अज्ञेय अपने अनुभूत को व्यक्त करने के लिए परम्परा प्रचलित उपमानों को उपयुक्त नहीं पाते

''अगर मैं तुम को ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार–न्हायी कुंई,
टटकी कली चम्पे की, वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।''[21]

इन उपमानों की जगह अज्ञेय अपनी प्रेयसी को 'लहलहाती हवा में कलगी छरहरे बाजरे' का उपमान देते हैं। रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियों के बदलने से प्रश्न केवल प्रेम को नये अनुभूत सन्दर्भों में ही व्यक्त करने का नहीं है। अपितु जीवन का सारा अनुभावन ही बदल गया है। इसलिए अज्ञेय परम्परा के भीतर से अपने लिए राह बनाने का उद्यम करते हैं। अज्ञेय परम्परा को खारिज नहीं करते, न ही उससे मुक्त होने की बात करते हैं। बल्कि नये सर्जनात्मक प्रयोगों से जो उनके अनुभूत को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो, के माध्यम से परम्परा को विस्तार देने की ही बात करते हैं।

''आज तुम शब्द न दो, न दो, कल भी मैं कहूँगा।
तुम पर्वत हो, अभ्र–भेदी शिला–खंड़ों के गरिष्ठ पुंज
चॉपे इस निर्झर को रहो, रहो,
तुम्हारे रन्ध्र रन्ध्र से तुम्हीं को रस देता हुआ फूट कर मैं बहूँगा।''[22]

अज्ञेय की कविताओं में मुक्ति का एक सन्दर्भ सम्प्रेषण की समस्या से भी जुड़ा हुआ है। 'कलगी बाजेर की' और 'आज तुम शब्द न दो' कविताएँ इसी समस्या को केन्द्र में रखकर लिखी गयी हैं। यह सवाल केवल शिल्प की समस्या से जुड़ा सवाल नहीं है। अपितु यह वह शाश्वत प्रश्न है जिससे औपनिषदिक ऋषियों को गुजरना पड़ा था। उनके लिए प्रश्न एक ऐसी स्थिति के निरूपण का था, जो अनुभवातीत स्थिति है। अनुभवातीत को कभी सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। बस विभिन्न कोणों से इस समस्या का वर्णन किया जा सकता है, जिससे सर्वसाधारण उस स्थिति के विषय में अनुमान लगा सके। उपनिषदकार इसमें काफी हद तक सफल भी हुये हैं। अज्ञेय के लिए समस्या किसी अनुभवातीत को व्यक्त न कर पाने की नहीं है। हाँलाकि बहुत से आध्यात्मिक अनुभवों को सम्प्रेषित करने का प्रयास अज्ञेय ने किया है। पर अज्ञेय को इस समस्या से मुक्ति मिली है– मौन के सर्जनात्मक उपयोग के द्वारा।

मम–ममेतर के द्वन्द्व के संदर्भ में मुक्ति को अज्ञेय दो अलग–अलग स्तरों पर देखते हैं। एक स्तर पर ममेतर समष्टिगत समूह है, जिसमें प्रेयसी भी शामिल है। तो ममेतर का दूसरा स्तर स्वयं अपने भीतर की का वह अनुभावन तंत्र है जिसमें 'भोक्ता' और 'दृष्टा' दोनों शामिल हैं। यहाँ दृष्टा 'मम' और भोक्ता 'ममेतर' है। क्रियात्मक योग में ध्यान की स्थिति को सिद्ध करने के लिए अपने मस्तिष्क में उदय दोने वाले अनुभवों के प्रति साक्षी मात्र रहना पड़ता है। उपनिषदों ने इसे ही 'द्वासुपर्णा' की कथा के माध्यम से समझाया है। अज्ञेय ने अपनी कविता में इस द्वासुपर्णा की कथा का सर्जनात्मक प्रयोग किया है–

''जो खाता था
वह रहा
डाल पर
जो देख रहा था

उड़ गया

अचानक

—फल भी लेकर।''[23]

यहाँ 'फल' वृक्ष का भौतिक फल नहीं है। बल्कि उस दृष्टि की उपब्धि है जो बन्धनों से मुक्त करती है। उपनिषत्कार ने कथा बतायी है कि एक पेड़ पर दो पंछी बैठे हैं। एक पेड़ के फल को खाने में भूला रहता है और दूसरा इस आसक्ति के बंधनों को समझता हुआ, उसमें फँसता नहीं है अपितु उड़ जाता है। उपनिषद की कथा में बस पंछी के उड़ जाने का जिक्र है। जबकि अज्ञेय अपनी कविता में कहते हैं कि 'जो देख रहा था उड़ गया अचानक फल भी लेकर।' फल भी लेकर उड़ जाना कविता में भोक्ता और सृष्टा के सम्बन्ध को बताने वाली ये कलात्मक युक्ति बन जाता है। इलियट ने कला की श्रेष्ठता के लिए भी 'भोक्ता' और 'सर्जक' मन के बीच की दूरी की बात कही है और अज्ञेय इलियट के इस सिद्धान्त से प्रभावित भी हैं। 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका में अज्ञेय ने इस पर विस्तृत चर्चा भी है और पाठकों के लिये यह निर्णय छोड़ दिया है कि उपन्यास में यह प्रतिज्ञा वे कहां तक निभा पाये हैं। यह सिद्धांत सम्प्रेषण को अर्थवान् बनाने में भी सहायक होता है। इस विषय में अज्ञेय ने 'उन्मेषशालिनी प्रतिभा' नामक लेख में लिखा है, ''कवि के प्राणोन्मेष में इस बात का महत्त्व होता है कि जहां एक भोक्ता के रूप में अचूक प्रतिभिज्ञा से यह जानता है कि यह मुझे कुछ 'मिला', यह मुझे कुछ 'दिखा, यह मैंने कुछ 'छुआ' इत्यादि, वहां वह उतने ही दृढ़ प्रत्यय से यह भी जानता रहता है कि मैं यह 'मिला होना', यह 'दिखा होना', यह 'छुअन' दूसरे तक भी पहुंचा सकता हूं जो भोग के क्षण में मेरा सहभागी और भोक्ता नहीं था। ठीक उसी प्रत्यभिज्ञा और प्रतीति में सर्जक कवि भोक्ता मनुष्य से अलग हो जाता है।''[24] अनुभूति की कसकती पीड़ा से जब तक कलाकार दूरी नहीं बना पाता वह सम्प्रेष्य नहीं हो सकती और उसके भीतर धधकती रहती है। इस ज्वाला से उसे मुक्ति नहीं मिल पाती। पर जैसे ही कलाकार अपने को अलगा पाने में सक्षम होता

है, वह सम्प्रेषित होकर इस ताप से मुक्त हो जाता है। जैनेन्द्र जी ने भी अपने निबन्ध 'साहित्य के श्रेय और प्रेय' में इस मुक्त हो पाने को दूसरे ढंग से व्यक्त किया है। आयु में वृद्धा होती जाती माँ को लेकर जैनेन्द्र जी बहुत चिन्तित थे। साथ ही अपनी असमर्थता और अपात्रता का बोध भी उन्हें भीतर तक तोड़ रहा था। वे आत्महत्या तक कर लेने के दबाव तक पहुँच गए थे। परन्तु साहित्य–सर्जना ने उनकी रक्षा की। वे लिखते हैं, ''हमारे अन्दर अनन्त अव्यक्त है। मैला उसमें है, धौला उसमें है। उस सबको स्वीकार करके शनैः शनैः उससे बाहर निकलकर अपने को रिक्त करते जाना–मेरे ख्याल में यह बड़ा काम है। इससे अलग सर्जन क्या होता होगा, वह मैं नहीं जानता हूँ।''[25] मुक्तिबोध ने भी कुछ इसी तरह की सम्मति एक साहित्यिक की डायरी में व्यक्त की है। अज्ञेय की विशिष्टता यह है कि अपने चिन्तन और सृजन दोनों में इसे बार–बार भिन्न उदाहरणों और कलात्मक प्रयोगों से व्यक्त करते हैं। इस तरह यह अज्ञेय के लिए एक साथ जीवन–मूल्य और कला–मूल्य दोनों बनता जाता है।

मम–ममेतर सम्बन्ध का दूसरा आयाम व्यक्ति और समाज है। अज्ञेय ने इस पर भी विस्तार से विचार किया है। कविताओं में भी यह बहुत से प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। नदी–द्वीप, बूंद–समुद्र, आकाश–हारिल, द्वीप–पंक्ति– ये सारे प्रतीक इसी प्रश्न को सुलझाने के लिए गढ़े गये हैं। 'नदी के द्वीप' की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य है–

''हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी वह जाए।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियां, अंतरीप, उभार, सैकत–कूल
सब गोलाइयां उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह! है, इसी से हम बने हैं।

किंतु हम हैं द्वीप। हम धारा नहीं हैं।''[26]

जैनेन्द्र जी ने 'त्यागपत्र' उपन्यास के अंत में मृणाल चरित्र के माध्यम से कहलवाया है कि 'समाज ही नहीं रहेगा तो हम बनेंगे किसमें, टूटेंगे किसमें।' नदी समष्टि का प्रतीक है, तो द्वीप व्यष्टि का। अज्ञेय अपने चिन्तन में व्यक्तित्व की उपलब्धि 'समाज से मुक्ति' के रूप में न देखकर 'समाज में मुक्ति' के रूप में देखते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता मम में नहीं ममेतर के भीतर परिभाषित होती है। ममेतर ही वह मुकुर है जिसमें मम की अस्मिता उपलब्ध होती है। व्यक्तित्व की उपलब्धि पर आग्रह देने के कारण अज्ञेय के ऊपर व्यक्तिवादी होने का आरोप लगाया जाता रहा है। व्यक्तिवाद का एक रूप अज्ञेय में है भी। पर वह कलाकार की सार्वकालिक व्यक्तिवादिता है, न कि व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में समाज से कटे व्यक्तित्व को पा लेने का विचार रखने वाली, सामाजिकता के मूल्य का तिरस्कार करने वाली व्यक्तिवादिता है। भवभूति की उक्ति को इस संदर्भ में बहुधा उद्धृत किया जाता है–

''उत्पस्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी''[27]

इस 'उत्पस्यते मम तु कोऽपि' की ध्वनि को ग़ालिब, इक़बाल से लेकर निराला में देखा जा सकता है। ग़ालिब ने कहा है–

''या रब न वो समझे हैं न समझेंगे मेरी बात
दे और दिल उनको जो न दे मुझको जबां और''[28]

तो इक़बाल भी इसी ज़मीन पर कहते हैं–

''हजारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पर रोती है
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा''[29]

निराला ने भी अलक्षित रह जाने की पीड़ा को व्यक्त किया है–

''दिये हैं मैंने जगत को फूल–फल,
किया है अपनी प्रतिभा से चकित चल
पर अनश्वर या सकल पल्लवित पल
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है।
अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को निरूपमा।
बह रही है हृदय पर केवल अमा
मैं अलक्षित हूं, यही
कवि कह गया है।''[30]

अज्ञेय के काव्य में ऐसी दाता–भाव और गर्वोक्तियों से सम्बन्धित कई पंक्तियों हैं। अज्ञेय को भी अलक्षित रहने का दर्द है, जिसे वे दाता–भाव से पाटना चाहते हैं–

''यह रूप केवल मैंने देखा,
यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया,
सब तुम्हें दिया।''[31]

इसी तरह की उक्तियों के कारण अज्ञेय पर व्यक्तिवाद का आरोप लगाया जाता है। परन्तु यह अपनी कला के सामाजिक पहचान की मांग के लिए किया गया महिमा मण्डन है। यहीं गर्व का भाव उन्हें भवभूति से लेकर ग़ालिब, इक़बाल और निराला से जोड़ता है। अज्ञेय के संदर्भ में अच्छी बात यही है कि वे इस आत्मदान को सहज स्वीकृति के रूप में भी पहचानते है–

'सारा सृजन

आँचल पसार कर लेना है।'

इसी स्वीकार में दाता भाव की गर्वोक्ति का परिहार हो जाता है, जो एक स्तर पर कलाकार की मुक्ति है।

यांत्रिकता द्वारा पैदा होने वाली जड़ता, ऊब और अजनबियत से मुक्ति को अज्ञेय सृजनशीलता के माध्यम से पार करते हैं और यही सृजनशील व्यक्तित्व द्वीप, हारिल, मछली, बूंद और दीप के प्रतीकों में व्यक्ति हुआ है।

''यह दीप अकेला स्नेह भरा

है गर्व भरा मदमाता पर

इसको भी पंक्ति को दे दो''[32]

'आलोचक राष्ट्र' की अवधारणा में अज्ञेय सृजनशील इकाईयों के माध्यम से सफल समाज और सफल राष्ट्र बनाने की बात करते हैं। भीड़ कभी भी सर्वाइवल के सवाल से आगे नहीं बढ़ पाती। ऐसे में व्यक्ति इकाई के स्तर पर और समाज दोनों के स्तर पर केवल जड़ता और गुलामी की ही स्थिति पैदा होती है। सृजनशीलता के प्रत्यय में मुक्ति की उपलब्धि की सबसे साथक कलात्मक उपलब्धि है– 'असाध्य वीणा।' वज्रकीर्ति ने जिस अति प्राचीन किरीटी–तरू से इस वीणा का निर्माण किया था उसके कानों में हिम शिखर रहस्य कहा करते थे, कंधों पर बादल सोते थे, उसकी करि–शुण्डों–सी डालें हिम–वर्षा से पूरे वन–यूथों का त्राण कर लेती थीं। उसके कोटर में भालू बसते थे, केहरि उसके वल्कल से कंधे खुजलाने आते थे। उसकी जड़ पाताल–लोक तक जा पहुंची थी। ये किरीटी– तरू सम्पूर्ण जीवन के आधार का प्रतीक है। वज्रकीर्ति ने अपना जीवन देकर उससे वीणा का निर्माण किया था। कविता में राजा वीणा का परिचय बताते समय 'किन्तु सुना है, 'और सुना है' पदों का प्रयोग करता है।

वहीं प्रियंवद किरीटी–तरू से एकमेक होने के क्रम में बार–बार कहता है– 'हां, मुझे स्मरण है'। अज्ञेय ने वीणा के बजाने से पहले प्रियंवद के वीणा के साथ तदाकारित होने के बहुत से बिम्ब खींचे हैं–

''पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा–
नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।
सघन निविड़ में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी–तरू को।''[33]

जहाँ राजा के सारे जाने माने कलावंत वीणा को बजा सकने में असमर्थ हो जाते हैं। प्रियंवद सबकुछ की तथता में स्वयं को सौंप कर वीणा से संगीत उत्पन्न करता है। यहां अज्ञेय सृजनशीलता और राज्याश्रय के सम्बन्ध को भी सामने रखते हैं। मोहन राकेश ने भी 'आषाढ़ के एक दिन' में इस प्रश्न को सामने रखा है। कालिदास जब प्रकृति के बीच रहता है, तो उसकी रचनाशीलता जागृत रहती है। वह अनुभूतिगत तादात्म्य कालिदास को राजकवि के रूप में उपलब्ध नहीं होता, जो प्रकृति की गोद में स्वच्छंद विचरण के समय उसे प्राप्त था। उसकी मनोदशा को देखकर ही उसकी पत्नी कालिदास के पुराने जीवन के वातावरण को यथारूप राजधानी ले आने का उपक्रम करती हैं। वे हिरण, शावक, वृक्ष लताएं ध्यान से एकत्र किए जाने लगते हैं। कालिदास की पत्नी के द्वारा किया जाने वाला यह प्रयास कृत्रिम साधनों का एकत्रीकरण है। साधन स्वयं में कृत्रिम नहीं होते है। देशकाल का व्यतिक्रम पूर्ण बदलाव उन्हें कृत्रिम बना देता है। रचना के लिए अनुभूति से परे व्यर्थ के साधनों का जमावडा स्पंदनहीन कूडा करकट है। राजा के कलावन्त इसी कृत्रिमता में फंसे होने के कारण 'जीवन के अनकहे सत्य' से वंचित रह जाते हैं, जो प्रियंवद को प्राप्त होता है। यह 'अनकहा सत्य' कोई तर्कवाद पर आधारित गूढ़ दार्शनिक प्रपत्ति नहीं है। यह है जीवन की

सर्वसामान्यता, व्यापकता और अखण्डता का सच। इस अनकहे सत्य को प्राप्त कर लेने वाला प्रियंवद जब वीणा बजाता है तो उसके स्वर से राजा और रानी जो क्रमशः सत्ता और कृत्रिमता के प्रतीक हैं अपने को हल्का और मुक्त पाते हैं। वीणा के स्वर में अज्ञेय ने उन तमाम ध्वनि समूहों को दिखा दिया हैं, जो परस्पर पूरक हैं। उसमें सृजन–प्रलय, तीक्ष्ण–मंद्र, समीप–दूरस्थ जैसी तमाम युग्मात्कम ध्वनियां सम्मिलित हैं। किन्तु ये सारी विविधता मिलकर एक लय बन गई है। ये सारी ध्वनियां और ध्वनि बिम्ब रचनाकार से परे 'शब्द' में लय हो जा रही हैं। रचना–कर्म का अभीष्ट यही है। अपने से परे जाकर अनुभूति–सत् को यथारूप शब्द दे देना या पा लेना ये कवि के लिए चुनौती है। यह मम और ममेतर के तनाव की मुक्ति का क्षण है। वस्तु के लिए रूप की सिद्धि का क्षण है। इसीलिए जब वीणा बजी तो

''अवतरित हुआ संगीत
स्वयम्भू
जिसमें सोता है अखण्ड
ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय''[34]

असाध्य वीणा कविता इसीलिए अज्ञेय की अन्य कविताओं की तुलना में एकदम विशिष्ट हो गई है। इसमें रचना–कर्म और उसकी प्रक्रिया के चरम की सिद्धि का रूपक बांधा गया है।

अज्ञेय के अन्तिम दिनों की कविता है– 'मैने पूछ क्या कर रही हो।' यही वो जगह है जहां से अज्ञेय अपने पूरे लेखकीय जीवन को टटोलते है। वह सवाल जो अज्ञेय के लिए केन्द्रीय महत्त्व का था यहां पहुंचकर कुछ दूसरा रूप ले लेता है। सारा जीवन बदली हुई रागात्मक प्रणाली और नए भाववोध के लिए सार्थक शब्द का संधान

करने वाले अज्ञेय जीवन के अंतिम दौर में रचनाकार की नियति के बारे में सोचते नजर आते हैं। 'आज तुम शब्द न दो', 'हरी घास पर क्षण भर', 'कलगी बाजरे की' के कवि ने सारी तैयारी की थी उस चित्र को खींचने के लिए जिसमें जीवन की चरम अनुभूति को बांधा जा सके। कवि 'बावरा अहेरी' के माध्यम से जाल बिछाता है और जब खींचता है जाल को तो बाँध लेना चाहता है सब कुछ को फिर भी उसके मन की दुबकी हुलास दुबकी ही रह जाती हैं। ये हुलास शब्द चित्र पाती है 'बना दे चितेरे' में। कवि सब कुछ को अपनी आत्मा में महसूस करता है, पर इन सबके बीच में से चरम अनुभूति की पहचान का बिम्ब इसी कविता में पूरा हो पाया है। यह बिम्ब ही अज्ञेय के कवि कर्म की चरम उपलब्धि है। कविता में वे लिखते हैं–

''मैंने पूछा
यह क्या बना रही हो?
उसने आँखों से कहा
धुआँ पोंछते हुए कहाः
मुझे क्या बनाना है! सब–कुछ
अपने आप बनता है
मैंने तो यही जाना है।
कह लो भगवान ने मुझे यही दिया है।''[35]

'मुझे भगवान ने यही दिया है', पंक्ति कवि की नियति बता रही है। ऐसी नियति कब होती है। इस नियति के लिए शर्त है, जीवन को जीना, भरपूर जीना। छीलने, मसलने, निचोड़ने, कोड़ने, कसने, फूटने, फेंटने और सँवरने देना तथा इन अनुभवों को इनके रसायन को क्रियाशील होने देना। इस तरह कविता में नियति के रूप में चित्रित यह कवि का समर्पण मालूम पड़ता है– सम्पूर्ण जीवन के प्रति समर्पण। यह भरपूर जीना सार्थकता की पहचान है और यही अज्ञेय की मुक्ति है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अज्ञेय ने सारा जीवन पूर्णता की तलाश में बिताया। अज्ञेय ने कवि के लिए चिरयात्री विशेषण का प्रयोग किया है। 'कन्हाई ने प्यार किया' जैसी कवितायें इसी निरंतर शोध का प्रतिफल हैं। इस कविता में अज्ञेय कहते हैं कि कवि बार–बार गीत लिखता है और एक ही विषय को देता रहता है विस्तार। अगर किसी एक गीत में सब कुछ को पा लिया होता तो कवि दूसरा गीत ही न लिखता। नाच कविता भी इसी तनाव से जन्मी कविता है जो पा लिये गये उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के तनाव को केन्द्र में रखती है। यह तनाव मिटता है असाध्य वीणा में। अज्ञेय ने प्रियंवद के माध्यम से जो कलात्मक समाधान प्रस्तुत किया है वह उनके जीवन और सृजन का भी काम्य है। अज्ञेय अपने लेखन में प्रियंवद होना चाहते है। कई बार ये तनाव मिट गये हैं तो कवि को तथ्य के भीतर से सत्य का साक्षात्कार हुआ है। परन्तु जब जीवनानुभव काव्यानुभव में नहीं बदला है तो एक बेचैनी भी अज्ञेय के भीतर चलती रही है। 'कितनी नावों में कितनी बार' कविता जब जीवनानुभव काव्यानुभव में ढ़ल पाया है तो अज्ञेय को पूर्णता का अनुभव हुआ है। परन्तु जब तथ्यों के बीच उन्हें सत्य का साक्षात्कार नहीं हुआ है तो कवि अक्लांतता से भर उठा है। यह समस्या कथ्य और शिल्प दोनों ही रूपों में अज्ञेय के सृजन कर्म में दिखाई पड़ती है। शब्द और सत्य के बीच के तनाव को अज्ञेय एक विस्फोट से उड़ा देना चाहते है। असाध्य वीणा को छोड़कर अज्ञेय की अन्य कविताओं में निरन्तर इस तनाव से मुक्त होने का प्रयास स्पष्ट दिखता है। असाध्य वीणा में अपने को संपूर्ण को देकर यूटोपिया में ही सही अज्ञेय ने प्रियंवद के माध्यम से यह समाधान पा लिया है। यही अज्ञेय के जीवन और सृजन की मुक्ति सम्बन्धी चरम उपलब्धि है और उनका चरम लक्ष्य भी। यह लक्ष्य ही अज्ञेय को निरन्तर सार्थकता उपलब्ध करने के लिए प्रेरित करता रहा है।

संदर्भ सूची

1 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–1), पृ.सं. 63, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

2 प्रणय कृष्ण, अज्ञेय का काव्य प्रेम और मृत्यु, पृ.सं. 30, आधार प्रकाशन पंचकूला, 2005।

3 अज्ञेय, विज्ञप्ति, सदानीरा (भाग–1) पृ.सं. 269, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, 2003, दूसरा संशोधित संस्करण।

4 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–2), पृ.सं. 128–129, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

5 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–1), पृ.सं. 70, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण

6 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–2), पृ.सं. 416, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण

7 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–9), पृ.सं. 121–122, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण

8 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–2), पृ.सं. 166, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण

9 अज्ञेय, संवत्सर, पृ.सं. 26, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, 1978, प्रथम संस्करण।

10 वही, पृ.सं. 25।

11 वही।

12 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–2), पृ.सं. 130, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण

13 डॉ. रामविलास शर्मा, अज्ञेय और नवरहस्यवाद, निबंधों की दुनिया (सं.–निर्मला जैन), वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, प्रथम संस्करण।

14 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–2), पृ.सं. 42, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण

15 वहीं, पृ.सं. 331।

16 अज्ञेय, संवत्सर, पृ.सं. 24, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, 1978, प्रथम संस्करण।

17 अज्ञेय, विज्ञप्ति, सदानीरा (भाग–2) पृ.सं. 120, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, 2003, दूसरा संशोधित संस्करण

18 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–2), पृ.सं. 130, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण

19 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–1), पृ.सं. 295, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण

20 वही।

21 वही, पृ.सं. 301।

22 वही, पृ.सं. 323।

23 कृष्णदत्त पालीवाल (सं.), अज्ञेय रचनावली (भाग–2), पृ.सं. 458, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[24] अज्ञेय, उन्मेषशालिनी प्रतिभा, सर्जना और संदर्भ, पृ॰सं॰ 248, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, 2004,द्वितीय संस्करण।

[25] जैनेन्द्र, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ॰सं॰ 17, पूर्वोदय प्रकाशन नई दिल्ली, 1991।

[26] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–1), पृ॰सं॰ 302, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[27] अज्ञेय, भूमिका, सदानीरा (भाग–2) पृ॰सं॰ 7, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, 2003, दूसरा संशोधित संस्करण

[28] दीवान–ए–ग़ालिब (सं॰–अली सरदार जाफ़री), पृ॰सं॰ 128, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, तीसरी आवृत्ति।

[29] इक़बाल, कुल्लियाते– इकबाल (उर्दू), सं॰शोहरत बुखारी, पृ॰सं॰ 283, इक़बाल अकादमी, लाहौर, पाकिस्तान, 1990।

[30] निराला, राग–विराग (सं॰–रामविलास शर्मा), पृ॰सं॰ 113, लोक भारती प्रकाशन नई दिल्ली, 1998।

[31] अज्ञेय, सदानीरा (भाग–2) पृ॰सं॰ 82, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, 2003, दूसरा संशोधित संस्करण।

[32] कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग–1), पृ॰सं॰ 324, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

[33] अज्ञेय, सदानीरा (भाग–2) पृ॰सं॰ 108, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, 2003, दूसरा संशोधित संस्करण।

[34] वही।

[35] वही, पृ॰सं॰ 396।

उपसंहार

राजनीतिक स्वतंत्रता व्यक्ति इकाई से दूसरे व्यक्ति इकाई की स्वतंत्रता के हनन को रोकने के लिए बाध्यकारी नियमों, व्यवस्थाओं और संस्थाओं की अनिवार्यता की ओर अग्रसर होती है। परन्तु अज्ञेय के लिए स्वाधीनता अस्तित्व की सार्थकता के लिए आहूत चुनौती है। इस शर्त के अुनसार स्वाधीन वही है जो दूसरे की स्वाधीनता के लिए अपनी स्वाधीनता का बलिदान करने को प्रस्तुत है। स्वाधीनता की सच्ची कसौटी 'मैं' नहीं 'ममेतर' है। ममेतर के दर्पण में व्यक्ति को उसकी अस्मिता का सच्चा प्रतिबिम्ब मिल सकता है। राजनीतिक स्वतंत्रता बाध्यकारी नियमों, व्यवस्थाओं और संस्थाओं से आगे जाकर सर्वाइवल के लिए सरकारात्मक कदम भी उठाती है, जिनमें शिक्षा स्वास्थ, मनोरंजन (रीक्रियेशन), पर्यावरण–रक्षा आदि शामिल हैं। लेकिन इसकी सारी चिन्ता सर्वाइवल को ही उत्कृष्ट रूप में उपलब्ध करा देने की होती है। अस्तित्व की सार्थकता के प्रश्न पर सोचना या उसके लिए प्रेरित करना राजनीतिक स्वतंत्रता का क्षेत्र नहीं है। हांलाकि, सार्थकता के प्रश्न तक पहुंचने के लिए सर्वाइवल का उत्कृष्ट रूप में उपलब्ध होना प्राथमिक शर्त भी है। व्यक्तित्व की चरम उपलब्धि के लिए आवश्यक और सहयोग देने वाले वातावरण का निर्माण करना राजनीतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य है। पर इस चरम व्यक्तित्व की सार्थकता से उसका सरोकार नहीं है।

अज्ञेय की चिन्ता इस सर्वाइवल के प्रश्न से आगे की चिन्ता है, इसलिए वे 'स्वतंत्रता' से आगे मुक्ति के क्षेत्र तक पहुंच पाते हैं। अज्ञेय मानते हैं, मनुष्य मरणधर्मा है। परन्तु वह ऐसे मूल्यों की अवधारणा और सृष्टि कर सकता है जो मरणातीत हैं। अपने से बड़े इन मूल्यों के सृजन के द्वारा ही मनुष्य नश्वरता के बोध से मुक्त होता हैं। और उसे अपनी सार्थकता उस अपने से बड़े मूल्य के प्रति उत्सर्ग हो जाने में दिखती है। इस तरह मनुष्य एक स्वाधीन कर्त्ता के रूप में ऐसे मूल्यों का चुनाव करता है, जो उसके जीवन से बड़े हैं और उनके लिए खुद को उत्सर्ग करता है। अज्ञेय 'उत्सर्ग' को एक मात्र स्वतंत्र वरण के रूप में स्वीकार करते हैं और यह उत्सर्ग या 'आत्मदान' उनके समूचे सृजन का सार है।

अज्ञेय ने स्वाधीनता को अपने से बड़े ऐसे मूल्य के रूप में देखा है, जिसके लिए उत्सर्ग हो जाया जा सकता है। ऐसे में एक ऐसे परिवेश का निर्माण उन पर उत्तरदायित्व की तरह आ जाता है, जिसमें सभी स्वाधीन हो सकें। क्योंकि ऐसे किसी परिवेश में स्वाधीनता संभव नहीं है, जिसमें दूसरे स्वाधीन न हों। इसीलिए अज्ञेय अपनी मुक्ति का प्रतिमान मम नहीं ममेतर को स्वीकार करते हैं। अपने सृजन–कर्म में भी अज्ञेय ने इसे भिन्न कलात्मक प्रतीकों, पात्रों और घटना–प्रसंगों के माध्यम से दिखाया है कि जहां व्यक्ति केवल मम तक सीमित रह गया है, वहां कई तरह की अपूर्णताएं पैदा हुई हैं और इन अपूर्णताओं के प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्ति कई तरह की कुण्ठाओं, अंतर्द्वन्द्वों का शिकार हुआ है। फिर उसने इस कुण्ठा को विद्रोह और हिंसा के द्वारा व्यक्त किया है, चाहे स्वयं पर या समाज पर। शेखर स्वभावतः विद्रोही है, किन्तु शशि के माध्यम से जब वह रचनाशीलता की ओर उन्मुख होता है और अपने समाज के बारे में सोचता है, वह अपने को सार्थक पाता है। कहानियों के पात्रों को लें तो हारिती, मारिया, एन्टनी, मार्टिन महत्तर लक्ष्य के लिए अपने को समर्पित कर देते हैं, और अपने को पूर्ण व मुक्त पाते हैं। वहीं हीली, मालती, मीरा के चरित्र भी हैं जो भीतर के खोखलेपन, ऊब और अपूर्णता को मिटाने के लिए स्वयं पर हिंसा करते हैं।

अज्ञेय पर व्यक्तिवादी और अस्तित्ववादी होने के आरोप लगते रहे हैं। परन्तु यह ममेतर का मुकुर और स्वाधीनता के लिए उत्सर्ग हो जाने में सार्थकता की सिद्धि उन्हें दोनों ही से बचा लेती है। सार्त्र किसी भी सिद्धान्त या नुकते को चाहे वह तर्कबुद्धिवाद की प्रणाली से पैदा हुआ हो या धर्ममत यानी ईसाईयत द्वारा प्रदत्त हो किसी भी निर्णय या वरण के लिए अनुपयोगी मानते हैं। मनुष्य चुनाव की घड़ियों में नितांत अकेला होता है और कोई भी प्रत्यय चुनाव के विषय में उसकी कोई मदद नहीं कर सकता। इसलिए सार्त्र घोषणा करते हैं कि मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है। साथ ही सार्त्र इसमें यह भी जोड़ते हैं कि लिये जा चुके निर्णय के वैल्यू जजमेंट का कोई आधार भी हमारे पास नहीं है। अज्ञेय भी अकेले होने की बात करते हैं, पर उस अकेले होने में आभ्यांतर से साक्षात्कार होता है और उस साक्षात्कार में मनुष्य अपने जीवन से बड़ा मूल्य उपलब्ध करता है और उसके लिए अपने को उत्सर्ग करने में अपने अस्तित्व की सार्थकता पाता है। जहां सार्त्र के

विवेचन में हर मूल्य–प्रणाली से कटा हुआ मनुष्य स्वतंत्र होने को अभिशप्त है। वहीं स्वाधीनता के लिए उत्सर्ग हो जाना अज्ञेय के लिए सबसे बड़ा मूल्य है। अज्ञेय निरीश्वर अस्तित्ववाद से कतई प्रभावित नहीं है। अगर उनके विचारों के साम्य मिलते भी हैं तो कीर्कगार्द से।

स्वाधीनता के बाद अज्ञेय सृजनशीलता को मुक्ति के सन्दर्भ में दूसरे मूल्य के रूप में स्वीकार करते हैं। सृजनशीलता यांत्रिकता से पैदा होने वाली जड़ता से रक्षा करती है साथ ही रचने का तोष मनुष्य को और पूर्णतर करता जाता है। सृजनशील व्यक्ति और सृजनशील समाज भी सौन्दर्य के साथ शिवतत्व की भी उपलब्धि करते हैं। अज्ञेय मानते हैं कि हर सृजन के साथ नैतिकता स्वयंमेव कलाकार और कलाकृति दोनों को उपलब्ध होती रहती हैं। यही कारण है कि अपने 'आलोचक राष्ट्र' की अवधारणा में वे हर नागरिक को साक्षर करने के बजाय सृजनशील बनाने की प्रेरणा सामने रखते हैं।

अज्ञेय पर क्षणवादी होने का आरोप भी लगाया जाता रहा है। बहुत–सी कविताओं के साथ–साथ रेखा का चरित्र इसी बोध का प्रतिनिधि चरित्र भी है। परन्तु अज्ञेय क्षण की उपलब्धि को निरवधि काल के बोध के माध्यम से शाश्वत आयाम में उपलब्ध करते हैं। काल और मुक्ति के संदर्भ में कालातीत होना ही मुक्त होना है। व्यक्ति अतीत, वर्तमान और भविष्य की व्यवस्था में इस कालातीत अनुभव को दो ही तरीकों से पा सकता है। नितान्त वर्तमान में जीकर, तब स्मृति और आकांक्षा से वह परे हो जायेगा। अज्ञेय इलियट के गुलाबबाड़ी के क्षण को ऐसी ही उपलब्धि मानते हैं। पर वे बताते हैं कि इलियट का यह काल विजय क्षणिक हैं, क्योंकि जैसे ही इलियट गुलाबबाड़ी के क्षण में हुई अनुभूति को याद करता है, वह स्मृति का सहारा लेता है। ऐसे में इलियट काल से हार जाता है। भारतीय योगदर्शन में शाश्वत वर्तमानता को उपलब्ध करने की सरणियां बताई गई हैं। पर वे कलाकार के प्रयोजन की नहीं हैं। अज्ञेय इसीलिए काल के एकरेखीय बोध की आलोचना करते हैं जो पश्चिम की देन हैं। वे भारतीय मनीषा के चक्रीय काल की अवधारणा से अपने लिए निरवधि काल की अवधारणा उपलब्ध करते हैं और पाते हैं कि निरवधि काल के वृहत वृत्त के घेरे में उपलब्ध होने वाला जीवंत क्षण कालजीवी मानव की पहचान को कालजीवी मानव की सार्थक पहचान में बदल देता है। इसके

साथ ही काल की चक्रीय अवधारणा अज्ञेय को नश्वरता के बोध से मुक्त करती है। वे देख पाते हैं कि पेड़ से गिरा पत्ता जमींन में खाद बनकर नये सृजन की ऊर्जा बनता है। इस देख पाने के लिए अज्ञेय आरण्यक ऋषियों का ऋण स्वीकार करते हैं।

अज्ञेय यांत्रिकता के बढ़ते प्रभाव का परिणाम आंतरिक गुलामी के रूप में देखते हैं और सृजनशीलता और स्वाधीन वरण को इससे बचने के उपाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स ने भी अपने alienation के सिद्धान्त में बताया है कि मजदूर कैसे पूंजीतंत्र में फंसकर अपने innerself से कट जाता है। मार्क्स इस अपूर्णता को हटाने का उपाय वर्ग हीन समाज की स्थापना के रूप में सामने रखता है। परन्तु अज्ञेय का मार्क्सवाद से या और दुरूस्त ढंग से कहें तो साम्यवाद से मतभेद यह है कि अज्ञेय जीवन के सम्पूर्ण राजनीतिकरण को खतरे के रूप में देखते हैं– सर्वसत्तावादी खतरे के रूप में। और यहीं वे समाज–व्यवस्था के संदर्भ में गांधी के विचारों की वकालत करते नज़र आते हैं कि गांधी ने स्वतंत्रता की राजनीतिक परिभाषा को आगे बढ़ाकर उसे सांस्कृतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों से भी जोड़ा है।

प्रेम के संबंध में भी अज्ञेय की धारणाएं इन्हीं मान्यताओं के अनुरूप हैं। मम की अस्मिता को ममेतर के मुकुर में देखने की वकालत करने वाले अज्ञेय इसीलिए possessiveness और obsession से बच जाते हैं। वे प्रेम में इस शर्त को स्वीकार करते हैं कि मैं तुम पर उतना ही अधिकार रखूंगा जितना तुम्हें मैं खुद पर अधिकार देता हूं, दे सकता हूं। ऐसे में दोनों प्रेमी युगल अपने–अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्र उपलब्धि करने में सक्षम हो सकते हैं।

मुक्ति के संबंध में अज्ञेय की सारी चिन्ता अस्तित्व की सार्थकता की चिन्ता है। पर इस सार्थकता को वे क्रमशः दूसरे में, समाज–राष्ट्र में और अंत में सम्पूर्ण मानवता के संदर्भ में उपलब्ध करते हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), अज्ञेय रचनावली (भाग 1–15), भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।

सहायक ग्रंथ

1. डा० राजबली पाण्डेय (सं०), हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास (भाग 1) नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० 2014 वि॰।
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी जयपुर, 2009 संस्करण।
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2007, छठवें संस्करण की आवृत्ति।
4. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, बाइसवां संस्करण।
5. माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह (भाष्यकार – डा० उमाशंकर 'ऋषि'), चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 2006, पुनर्मद्रित संस्करण।
6. डा० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन (भाग 1 व 2) (अनु० –नन्द किशोर गोभिल 'विद्यालंकार'), राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली, 1973, तीसरा संस्करण।
7. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, 2007, द्वितीय संस्करण।
8. के० दामोदरन, भारतीय चिंतन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।
9. डॉ० शिवप्रसाद सिंह, आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1973, प्रथम संस्करण।
10. योगेन्द्र शाही, अस्तित्ववादः किर्कगार्द से कामू तक ग्रंथलोक दिल्ली, 2003।

11. ज्यां पॉल सार्त्र, अस्तित्ववाद और मानवतावाद (अनु॰–जवरीमल्ल पारख), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1997, पहला संस्करण।
12. पाल रूबिचेक, अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष (अनु०– डॉ प्रभाकर माचवे), मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, 1973।
13. ईशावास्योपनिषद् (भाष्यकार –शंकराचार्य), गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 1997 वि॰, तीसरा संस्करण।
14. श्रीमदभगवतगीता, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 2049, चौंतीसवां संस्करण।
15. डा० रामचन्द्र प्रधान, समन्वय योग, भगवद्गीता अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान नई दिल्ली, 1996, प्रथम संवर्धित संस्करण।
16. राधावल्लभ त्रिपाठी, आदिकवि वाल्मीकि, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन नई दिल्ली, 2014, प्रथम संस्करण।
17. विद्यानिवास मिश्र, देश धर्म और साहित्य, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 1992, प्रथम संस्करण।
18. कृष्णदत्त पालीवाल (सं॰), हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला (भाग 1–2), सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली, 2011, प्रथम संस्करण।
19. धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, लोकभारती प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, प्रथम संस्करण।
20. परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्य, किताब महल इलाहाबाद, 1952, प्रथम संस्करण।
21. श्यामसुन्दर दास (सं), कबीर ग्रंथावली, प्रकाशन परिवार इलाहाबाद, 2011, पुनर्मुद्रित संस्करण।
22. नामवर सिंह, कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता (सं॰–आशीष त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2016, पहला संस्करण।
23. नन्द दुलारे वाजपेयी, महाकवि सूरदास, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, तीसरी आवृति।
24. सूरदास, भ्रमरगीत सार (सं०–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, उप सं०–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2012।
25. तुलसीदास, रामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर, सं॰ 2069 वि॰, अट्ठानबेवां पुनर्मुद्रण।

26. उदयभानु सिंह (सं०), तुलसी, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, 2014, दूसरा संस्करण।
27. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं०), जायसी ग्रंथावली, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, आवृत्ति संस्करण।
28. मालिक मुहम्मद जायसी, पद्मावत (सं० वासुदेव शरण अग्रवाल), साहित्य सदन झाँसी, 2002 संस्करण।
29. नामवर सिंह, छायावाद, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2006।
30. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी काव्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन नई दिल्ली, 2003, प्रथम संस्करण।
31. गजानन माधव मुक्तिबोध, एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2011, प्रथम संस्करण।
32. गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2010 आवृति।
33. शमशेर बहादुर सिंह, प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2011, पाँचवी आवृत्ति।
34. भोला भाई पटेल, अज्ञेयः एक अध्ययन, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2012 आवृत्ति।
35. रामस्वरूप चतुर्वेदी, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2011, छठवाँ संस्करण।
36. नन्द किशोर आचार्य, अज्ञेय की काव्य तितीर्षा, वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर, 2001, परिवर्धित संस्करण।
37. रमेश चन्द्र शाह, अज्ञेय का कवि–कर्म, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2012, प्रथम संस्करण।
38. रमेशचन्द्र शाह, वागर्थ का वैभव, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2012, प्रथम संस्करण।
39. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (सं०), अज्ञेय सहचर, किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली, 2011, प्रथम संस्करण।
40. विद्यानिवास मिश्र व रमेश चन्द्र शाह (सं०), अज्ञेय काव्य स्तबक, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, 1995, प्रथम संस्करण।

41. प्रणय कृष्ण, अज्ञेय का काव्य प्रेम और मृत्यु, आधार प्रकाशन पंचकूला, 2005, प्रथम संस्करण।
42. राजेन्द्र प्रसाद, अज्ञेय कवि और काव्य, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, 1978, प्रथम संस्करण।
43. कृष्णदत्त पालीवाल, अज्ञेय, प्रकाशन विभाग नई दिल्ली, 2012।
44. पारितोष कुमार मणि, अज्ञेय की काव्य–दृष्टि, अनामिका प्रकाशन इलाहाबाद, 2006, प्रथम संस्करण।
45. डॉ० रामविलास शर्मा, निबंधों की दुनिया (प्रधान सं० – निर्मला जैन, सं०–रामेश्वर राय), वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, प्रथम संस्करण।
46. गजानन माधव मुक्तिबोध, निबंधों की दुनिया (प्रधान सं०–निर्मला जैन, सं० कृष्ण दत्त शर्मा), वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2012, द्वितीय संस्करण की आवृति।
47. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2011, नवीन संस्करण।
48. नामवर सिंह, कविता के प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2012, दसवीं आवृत्ति।
49. लुई फिशर, गांधी की कहानी, सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली, 2013 संस्करण।
50. बी० आर० नंदा, महात्मा गांधी : एक जीवनी (अनु० – श्यामू संयासी), सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली, 1965, प्रथम संस्करण।
51. सुधीर चन्द्र, गांधी एक असम्भव सम्भावना, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2011।
52. मनोज सिन्हा (सं०) गांधी अध्ययन, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा० लि० हैदराबाद, 2016, पुनर्मुद्रित।
53. जो० कॉ० कुमारप्पा, गाँव–आन्दोलन क्यों?, मगन संग्रहालय समिति वर्धा, 2007।
54. धर्मपाल, भारत का स्वधर्म, वागदेवी प्रकाशन बीकानेर, 2016, द्वितीय संस्करण।
55. जैनेन्द्र कुमार, गाँधी और हमारा समय, पूर्वोदय प्रकाशन नई दिल्ली, 2001।
56. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1979।

57. जैनेन्द्र कुमार, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पूर्वोदय प्रकाशन नई दिल्ली, 1987।
58. अली सरदार जाफरी (सं०), दीवान–ए–गालिब, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, तीसरी आवृत्ति।
59. रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2010, तीसरा संस्करण।
60. मणिका मोहिनी (सं०), अज्ञेयः एक मूल्यांकन, वैचारिकी संकलन दिल्ली, 1992, प्रथम संस्करण।
61. ओ० पी० गाबा, राजनीति–सिद्धांत की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स नोएडा, 2012 पुनर्मुद्रण।

अंग्रेजी के सहायक ग्रन्थ

62- Arthur Koestler, The Yogi and The commissar, Jonathan cape London, 1945, First Published.
63- Marx Engels, On Literature and Art, progress publications Mascow, 1978, Second printing.
64- Harold J.Laski, A Grammar of Politics, George Allen & Unwin, 1970, Reprinted.
65- Rajeev Bhargave & Ashok Archarya, Political Theory : An Introduction, Pearson Delhi, 2017, Second Impression.
66- Anthony J. Parel (ed.), Hind Swaraj and other writings, Cambridge university Press U.K., 1997.
67- Karl Marx, Economic and Philosophic Manuscripts of 1844, (Translated by-Martin Milligan), Prometheus Books New York, 1988.
68- Law Rence H. Simon (Ed.), Karl Marx Selected Writings, Hackett Publishing Company, 1994.

पत्र–पत्रिकाएँ

1. आलोचना (अज्ञेय पर केन्द्रित), प्रधान सं० – नामवर सिंह, सं०–अरूण कमल, अप्रैल–जून 2011, अंक 41
2. आलोचना प्रधान सं० – नामवर सिंह, सं०–अरूण कमल, जनवरी–मार्च 2014, अंक 52
3. आजकल (अज्ञेय विशेषांक), सं०–नीना ओझा, अप्रैल 2011, अंक 12
4. इन्द्रप्रस्थ भारती (अज्ञेय विशेषांक), सं०–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव 'परिचयदास', जुलाई–सितम्बर 2011
5. पुस्तक वार्ता, सं०–विमल झा, मार्च–अप्रैल 2015, अंक 57